अज्ञेय

अनुक्रम

जीवन-वृत्त

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जन्म फाल्गुन शुक्ल सप्तमी, संवत् 1967, यानी अंग्रेजी तारीख के मुताबिक 7 मार्च 1911 को उत्तर प्रदेश के देवरिया जनपद के कसया नामक स्थान में एक पुरातत्व खुदाई शिविर में हुआ। पिता पं. हीरानन्द शास्त्री भारत सरकार के पुरातत्व-विभाग में एक उच्च अधिकारी थे। संस्कारी और स्वाभिमानी पिता तत्कालीन स्कूली शिक्षा की उपयोगिता के बारे में बहुत आश्वस्त नहीं थे। इसलिए 'सच्चा' [बालक सच्चिदानन्द को बचपन में इसी नाम से पुकारा जाता था] की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। संस्कृत पंडित से 'रघुवंश', 'रामायण', 'हितोपदेश' पढ़े, फ़ारसी मौलवी से 'सादी' और अमरीकी पादरी से अंग्रेज़ी पढ़ी। बचपन के आरंभिक वर्ष लखनऊ, श्रीनगर और जम्मू में बीते। सन् 1919 में पिता के साथ नालन्दा आये और वहाँ से पटना। हिन्दी —साधुभाषा हिन्दी—का संस्कार पिता से ही ग्रहण किया जो उत्तरोत्तर सहज सिद्ध होता गया। अंग्रेज़ी पक्की होते ही अंग्रेज़ और उसकी अंग्रेज़ी के प्रति मन में विद्रोह जगना स्वाभाविक ही था। 1921 से 1925 तक दक्षिण भारत (नीलगिरि) में रहे। इस दौरान उन्होंने अपने पिता के समृद्ध पुस्तकालय का जमकर उपयोग किया। जैसा कि अज्ञेय-साहित्य में निबद्ध एकाधिक प्रसंगों से प्रगट होगा, लड़कपन में इन्हें टेनीसन ने बहुत प्रभावित किया था—अपनी लयात्मक विशेषताओं के कारण। अज्ञेय के पाठक इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि अज्ञेय की लयात्मक संवेदना अत्यन्त उच्चकोटि की है और वे 'लय' को अपने काव्य और काव्य-विचार में ही नहीं, व्यक्तिगत जीवन में भी सर्वोच्च महत्त्व का स्थान देते रहे हैं। पं. विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में :

> "बस एक झक है कि जितनी चीज़ें आस-पास रहें, उनकी लय मिली रहे। लय मिलाने में जैसी परेशानी में स्वयं पड़ते और दूसरों को डालते देखा है, उसके ऊपर हँसी भी आती है, खीझ भी होती है, पर जानता हूँ कि यह अज्ञेय का स्वभाव है।"

'आत्मनेपद' का आरम्भ ही 'मेरी पहली कविता' शीर्षक एक स्मृति-लेख से होता है जिसका उल्लेख यहाँ इसी लयात्मक 'स्वभाव' के सिलसिले में प्रासंगिक होगा। सच्चा तब चार-पाँच वर्ष के रहे होंगे। किसी रिश्तेदार ने उन्हें एक फिरकनी लाकर की। नाम बताया 'भुमीरी'। उसे घूमते देखना इतना रोमांचकारी था कि 'सच्चा' ताली दे-देकर उसके चारों ओर नाचने लगे। आगे का हाल स्वयं सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के शब्दों में सुनिए :

"···लेकिन नाचना भी काफ़ी नहीं मालूम हुआ—तब मैंने ताली दे-देकर चिल्लाना शुरू किया—'नाचत है भूमिरी।' छन्द को गति के कारण अनायास ही 'भुमीरी' को 'भूमिरी' बन जाना पड़ा। सहसा चौंककर मैंने जाना कि जो बात मैं कह रहा हूँ, उससे वास्तव में अधिक कुछ कह रहा हूँ—'नाचत है भूमि री'—मेरी भुमीरी नाचती है, सो तो ठीक लेकिन अरी, भूमि भी तो नाचती है—नाचत है भूमि, री !···सच तो !···सच तो ! वाक्य सचमुच दो अर्थ देता है—उसमें चमत्कार है !···इससे आगे शब्द नहीं मिले, पर उस समय मैंने जाना कि मेरी भँवरी ही नहीं, भूमि भी नाचती है—सारा विश्व-ब्रह्माण्ड नाच रहा है और उसी ताल पर, उसी छंद में बँधा मैं भी नाच रहा हूँ—मैंने एक साधारण वाक्य से एक असाधारण अर्थ निकाल लिया है—मैं आविष्कारक हूँ, स्रष्टा हूँ।"···

यह तो हुई घटना और उसका अनुस्मरण। इस पर टिप्पणी करते हुए अज्ञेय आगे कहते हैं :

"पाठक हँस सकता है। आज मैं भी हँस सकता हूँ। लेकिन इस बोध से उस दिन जो रोमांच हो आया था, उसकी छाप आज भी मुझ पर है—और उस दिन से मैं कभी नहीं भूला हूँ कि शब्द शक्ति का रूप है, कि शब्द का सार्थक प्रयोग सिद्धि है।···अनुप्रास और लय—इनकी पहचान अपेक्षया सरल भी होती है, सहज भी : अबोध शिशु लोरियाँ सुनकर ही इन तत्त्वों को पहचानने लगता है। और इनके बोध में अभिभूत करनेवाला वह तत्त्व नहीं होता जो शब्द की अर्थ-बोधन क्षमता को पहचानने से होता है—वह एक दूसरी ही कोटि का बौद्धिक आनन्द है।"

नीलगिरि-प्रवास के दौरान ही इस किशोर कवि का परिचय गुप्तजी की कविता के अतिरिक्त श्रीधर पाठक और 'हरिऔध' की कविता से भी हुआ। इन कवियों के प्रभाव में कई छंदों का खूब अभ्यास किया गया : न केवल रोला, वीर, हरिगीतिका और गीतिका पर, बल्कि कुछ संस्कृत छन्दों पर भी 'हाथ साफ़ करने

का साहस हुआ ।' पहली कविता लाहौर में अपने कॉलेज की पत्रिका में छपी और पहली कहानी एक बालचर पत्रिका 'सेवा' में। अज्ञेय ने स्वयं एक जगह स्वीकार किया है कि उन्होंने अंग्रेज़ी 'गीतांजलि' के प्रभाव में उसी ढंग के कुछ रहस्यवादी गद्य-गीत भी लिखे थे जो 'दैव-कृपा से कभी छपे नहीं और जेल-प्रवास के दिनों में खो-खा भी गये ।'

लाहौर में फॉर्मन कॉलेज में बी. एस-सी. की पढ़ाई के दौरान ही अज्ञेय नवजवान भारत सभा के सम्पर्क में आये और एक गुप्त क्रान्तिकारी दल का गठन किया जो 1929 में 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट पब्लिकन आर्मी" में मिल गया। तब तक ये बी. एस-सी. पास करके अंग्रेज़ी एम. ए. में प्रवेश ले चुके थे । वह पढ़ाई पूरी नही हुई क्योंकि क्रान्तिकारी जीवन आरम्भ हो गया था जो 1936 तक चला। 1930 में ये बम बनाने के सिलसिले में गिरफ़्तार किये गये, फिर दिल्ली षड्यंत्र केस के सिलसिले में काल कोठरी में बन्द रहे । इसी कारावास के दौरान, घोर यंत्रणा और आत्म-संघर्ष के बीच 'चिन्ता' की सारी कविताएँ लिखी गयीं और 'शेखर' भी। इस दौर के सारभूत अन्तर्जीवन को उसके भाविक-बौद्धिक संघर्ष एवं उपलब्धि को संवेदनशील पाठक इन दो रचनाओं में डूबकर पकड़ सकता है। भोगनेवाले प्राणी और रचनेवाली मनीषा के बीच उस आदर्श अंतराल के बावजूद, जो स्वयं अज्ञेय के लिए एक स्पृहणीय आदर्श रहा है, यह रचनागत अंतः-साक्ष्य किसी भी जीवन से अधिक मर्मोद्घाटक है । सात वर्षों की इस जीवनावधि को डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने 'भट्टी में गलाई' की अवधि कहा है। घटित के स्तर पर—उन्हीं के शब्दों में :

> "सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण छाप इस जीवन की उनकी रागात्मक अनुभूति को सघन बनाने में है। इस जीवन में प्रखर शक्ति और ताप जिस स्रोत से मिला था, उसके आकस्मिक निधन की चोट बड़ी गहरी पड़ी है। उस अत्यंतगता की स्मृति एक अमूल्य थाती है।···आहुति बनकर ही उन्होंने प्रेम को यज्ञ की ज्वाला के रूप में देखा।"

तदुपरांत साहित्यिक पत्रकारिता का अनुभव भी हुआ : 'सैनिक' और 'विशाल भारत' से कुछ अवधि के लिए जुड़कर। सन् 1942 में दिल्ली में अखिल भारतीय फ़ासिस्ट-विरोधी सम्मेलन का आयोजन किया। अनन्तर इन्होंने एक अप्रत्याशित निर्णय लिया। सुरक्षात्मक युद्ध की अनिवार्यता में अपने विश्वास को प्रमाणित करने के लिए अंग्रेजों की सेना में भरती हो गये। प्रतिरोध-अभियान की तैयारी के सिलसिले में सन् 1945 तक ये कोहिमा फ्रण्ट पर कार्यरत थे। तब तक इनके तीन कविता-संग्रह 'भग्नदूत', 'चिन्ता' और 'इत्यलम्' छप चुके थे, तीन कहानी-संग्रह 'विपथगा', 'परम्परा' और 'कोठरी की बात' और उपन्यास

'शेखर : एक जीवनी' भी। हाँ, यहाँ इससे पहले की एक घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। जैनेन्द्र जी के एक संस्मरण के अनुसार अज्ञेय अपने पहले कविता-संग्रह की भूमिका जयशंकर प्रसाद से लिखवाना चाहते थे और स्वयं जेल में होने के कारण यह काम उन्होंने जैनेन्द्र जी को ही सौंपा था। किन्तु प्रसाद ने मना कर दिया, यह कहते हुए कि भूमिका तो वे लिखते ही नहीं। और प्रसाद जी ने कभी किसी लेखक की पुस्तक की भूमिका नहीं लिखी। निराला की 'गीतिका' ही संभवतः एकमात्र अपवाद है। जो भी हो, यदि कवियश : प्रार्थी युवा अज्ञेय को इस विफलता से चोट पहुँची हो तो यह अचरज की बात नहीं है। ठीक उसी तरह, जिस तरह बरसों बाद निराला से एक अप्रत्याशित आशीर्वचन पाकर (स्मृति लेखा, पृ० 70) अज्ञेय का गद्‌गद् होना भी अचरज की बात नहीं थी।

हिन्दी कविता के आधुनिक दौर की शुरुआत अज्ञेय के द्वारा सम्पादित 'तारसप्तक' से हो ही चुकी थी। यह सन् 1944 की बात है। तब से लेकर अभी 1987 तक की अज्ञेय की जीवन-यात्रा नयी कविता की, और उस तरह कहना चाहिए, आधुनिक हिन्दी साहित्य की जीवन-यात्रा से अभिन्न रही। मार्च 1947 में अज्ञेय इलाहाबाद आये और 1950 तक वहीं रहकर 'प्रतीक' का सम्पादन करते रहे। नये साहित्य के मूल्यों को प्रतिष्ठित करने तथा उसके ग्रहण एवं आश्वासन के लिए सुरुचि का निर्माण करने में इस पत्रिका ने ऐतिहासिक भूमिका निबाही। सन् 1950 में वे दिल्ली चले गये और रेडियो की नौकरी करते हुए पुनः दो वर्षों तक 'प्रतीक' अकेले अपने बूते पर निकाला। 1955 तक रेडियो में रहे। इसी अवधि में 'हरी घास पर क्षण भर' तथा 'बावरा अहेरी' नामक दो कविता-संग्रह तथा 'नदी के द्वीप' नामक उपन्यास लिखे गये। 'अरे यायावर रहेगा याद' शीर्षक अन्तर्देशीय यात्रा-वृत्तांत भी इसी बीच छपा। 1955 में यूनेस्को के निमंत्रण पर अज्ञेय एक वर्ष के लिए यूरोप-भ्रमण के लिए गये। 'एक बूँद सहसा उछली' नामक यात्रावृत्त इसी भ्रमण की अविस्मरणीय उपलब्धि है। इस प्रवास की अवधि में ही अगले काव्य-संग्रह 'इन्द्रधनु रौंदे हुए' की कविताएँ भी लिखी गयीं। लौटकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए। फिर एक दूसरे निमन्त्रण पर जापान गये और 1958 में वहाँ से लौटे। लेखक अज्ञेय के लिए ये दोनों प्रवास उनकी आधुनिकता और भारतीयता दोनों को गुणात्मक समृद्धि देनेवाले साबित हुए। इसी काल की उनकी एक डायरी की टीप देखिए जो अज्ञेय की आधुनिकता और अज्ञेय की भारतीयता दोनों को झलकाती प्रतीत होती है। दोनों के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को भी। अज्ञेय उसमें लिखते हैं :

"यांत्रिक उन्नति इसे क्रमशः सुगमतर बनाती चलती है कि मानव अधिकाधिक काम बिना आत्मदान के कर सके।

अर्थात् वह अधिकाधिक मानवों का अकेला होना संभव बनाती जा रही है, यदि वे यान्त्रिक उन्नति पर ही निर्भर करते है।

यान्त्रिक उन्नति अपने आप में दूषित नही है।। वह मृत्यु को सुगमतर बनाती है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह जीवन को असंभव बनाती है।.

किन्तु यान्त्रिक उन्नति आत्मा को प्रेरणा नहीं देती, और वह प्रेरणा आवश्यक है। उस प्रेरणा के स्रोत की खोज आधुनिक मानव की खोज है।"

सन् 1960 में अज्ञेय फिर यूरोप की यात्रा पर गये 'और 'पियेर क्ववीर' के मठ में रहे। तब तक उनकी आधुनिकता यानी 'संस्कारवान् होने की क्रिया' (उन्हीं के शब्दों में)—आत्मविश्वास की पुख़्ता ज़मीन पा चुकी थी। 'अपने-अपने अजनबी' नामक उपन्यास—जो इसी दौरान लिखा गया—उसे पढ़कर पाठक इस मनोभूमि का अन्तरंग परिचय पा सकता है। अनन्तर अज्ञेय बर्कले (अमरीका) भी पढ़ाने के लिए गये। उसी दौरान 'आँगन के पार द्वार' प्रकाशित हुआ जिस पर साहित्य अकादेमी ने उन्हें पुरस्कृत किया। फिर 'कितनी नावों में कितनी बार' निकला, जिस पर ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित हुए।

सामान्यतया भारतीय लेखकों का वास्तविक रचनायुष्य अधिक नहीं होता। अज्ञेय अपवाद ही कहे जायेंगे जो जीवन के अन्तिम क्षणों तक निरन्तर रचना-रत रहे और इतना ही नहीं : उत्तर अज्ञेय के काव्य और चिन्तन में कई अपूर्वानुमेय मोड़ भी आये तथा गुणात्मक उत्कर्ष भी। 'महावृक्ष के नीचे' से लगाकर अन्तिम संग्रह 'ऐसा कोई घर आपने देखा है' तक ऐसा कोई कविता-संग्रह उनका नहीं, जिसने अज्ञेय-साहित्य में रुचि लेनेवालों को कुछ नया अर्थोत्तेजन न दिया हो। सत्तर के दशक में उन्होंने 'नया प्रतीक' निकाला—उसके माध्यम से कुछ नयी प्रतिभाओं की खोज की, अपने चिन्तन को विस्तार दिया। इसके अलावा ज्ञानपीठ पुरस्कार की राशि का उपयोग 'वत्सल निधि' की स्थापना के लिए करके अज्ञेय ने अपनी समाज-सम्पृक्ति को, संस्कृति की चिन्ता को ठोस व्यावहारिक धरातल पर मूर्त्त रूप दिया। लेखक-शिविर आयोजित किये, 'राय कृष्णदास मेमोरियल व्याख्यानमाला' तथा 'हीरानन्द शास्त्री स्मृति' के अंतर्गत व्याख्यानमालाओं का आयोजन किया। सांस्कृतिक यात्राओं का भी। इन आयोजनों की ठोस बौद्धिक उपलब्धियाँ पुस्तकाकार प्रकाशित हैं जो यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि अपने समय की ज्वलंत समस्याओं से अज्ञेय किस क़दर संवेदित रहे है और उनके संतोषजनक हल के लिए भी कितने चिंतित रहे हैं। ये गतिविधियाँ मात्र साहित्य-वृत्त तक ही सीमित नहीं : व्यापक सांस्कृतिक दायरों को भी वे अपने में समाहित करती थीं।

इस बात को आज ठीक-ठीक पहचानने की ज़रूरत है कि एक साहित्य-सर्जक

और चिन्तक की हैसियत से अज्ञेय ने हिन्दी के अपने परम्परागत दायित्व को निबाहने की ही राह निकाली थी। देश और समाज की जैसी पीड़ा उन्हें थी, प्रत्यासन्न समस्याओं और चुनौतियों की जैसी पकड़ उनमें थी, वैसी कम ही लेखकों में होगी। हिन्दी लेखकों के बीच संवाद की आवश्यकता सबसे उत्कट रूप में यदि किसी को अनुभव होती थी तो वात्स्यायन जी को। युवतर पीढ़ी के लेखकों को लेकर उनकी चिन्ता का रूप निश्चय ही वह नहीं था जो रचनात्मक प्रतिभा को विवेक की बजाए मोर्चा-बुद्धि से चलानेवालों में पाया जाता है। 'मेरी स्वाधीनता : सबकी स्वाधीनता' के अन्वेषी अज्ञेय की संवादोन्मुख समकालीनता का ठोस प्रमाण न केवल उनके हाल-हाल तक के चिन्तन में उपलब्ध है, बल्कि उसे उनके द्वारा आयोजित लेखक-शिविरों में भी बराबर देखा जा सकता था।

वात्स्यायन जी मूलत: तीव्र भावावेगों के व्यक्ति थे। उनके कुछ सिद्धान्त थे जिन्हें लेकर वे कभी समझौता नहीं कर सकते थे। किन्तु इस सिद्धान्त-निष्ठा के के साथ-साथ अपने गहरे नैतिक संवेदन और अचूक मात्रा-ज्ञान के चलते वे कट्टर सिद्धांतवादी की विडंबना से उत्तरोत्तर उबरते चले गये थे। ऐसे आवेगशील किन्तु नैष्ठिक बुद्धिजीवी की प्राकृतिक-सांस्कृतिक ऊर्जा ही उसे सच्चा सन्तुलन प्रदान करती है, उसे उत्तरोत्तर उदार बनाती जाती है। उसे वह संवेदनशील अन्तर्दृष्टि देती है जो किसी भी कोरे सिद्धान्त से बड़ी चीज़ है। सौन्दर्यबोध और शिवत्वबोध की अपनी जीवनव्यापी दुहरी साधना के फलस्वरूप ही वे जीवन से मिली सारी कटुता और कुत्सा के बावजूद कटु नहीं हो सके, बल्कि क्रमश: सौम्य और प्रशान्तात्मा होते गये। आख़िर ये काव्य-पंक्तियाँ और किसी ने नहीं, स्वयं अज्ञेय ने ही तो लिखीं थीं :

> यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा
> वह पीड़ा जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा
> कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुवाते कड़वे तम में
> यह सदा द्रवित चिर-जागरूक, अनुरक्त नेत्र
> उल्लम्ब बाहु, यह चिर अखण्ड अपनापा
> जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
> इसको भक्ति को दे दो।

'चिन्ता' की पहली रेखा

'चिन्ता' का प्रकाशन वर्ष 1942 है किन्तु इसकी सभी कविताएँ सन् 1932-36 के बीच लिखी जा चुकी थीं : कारावास की अवधि भी यही है। 'भग्नदूत' नाम से एक अलग संग्रह 1936 में निकल चुका था। इस अवधि में कई कहानियाँ भी लिखी गयीं, जो भाषा-संवेदन के स्तर पर अधिक अग्रगामी होने के कारण जल्दी प्रकाश में आयीं। कविताएँ अभी छायावादी काव्य भाषा से मुक्त नहीं हो पायी थीं।

अज्ञेय की एक प्रसिद्ध कहानी है—'कोठरी की बात', जो सम्भवत: भारतीय साहित्य में पहली ऐसी कहानी है जिसका रुझान 'अस्तित्ववादी' ('एक्ज़िस्टेंशियलिस्ट') है और यह अनजाने ही; क्योंकि यह नितान्त असम्भाव्य है कि तब तक इस नाम के साहित्यिक आन्दोलन की गन्ध भी लेखक तक पहुँची होगी। पता नहीं, क्यों, 'चिन्ता' की कविताएँ पढ़ते हुए मन की पृष्ठभूमि में कहीं वह कहानी भी बजती रही।···कहानी का एक चरित्र कहता है :

> "मैं 'निहिलिस्ट' नहीं हूँ, रोमांटिक नहीं हूँ। मुझे आत्म-पीड़न में ऐन्द्रिक सुख नहीं मिलता, मुझे गौरव का उन्माद भी नहीं हुआ है। पर मेरी परिस्थिति में एक ऐसी अपरिवर्त्त, तुषारमय अमोघ अनिवार्यता है कि मुझे और कोई उपाय सूझता ही नहीं, जिससे कुछ लाभ हो सके···"

यह एक क़ैदी सुशील का स्वगत है जिसे उसकी यातना की एकमात्र साक्षी —'काल-कोठरी' सुनती है। कोठरी की बात वस्तुत: 'काल'-कोठरी की बात है, जो एक जगह स्वयं कहती भी है कि···"कोई अपने मन में निश्चय नहीं कर सकता कि वह मेरे पास आएगा कि नहीं···यह निश्चय मैं करती हूँ और मेरी सहायक होती है मानव-हृदय की भूख···।" 'चिन्ता' का कवि भी एक जगह कहता है : "इस अविवेकी, तेजोमय, भावात्मक भूख की प्रेरणा के आगे मेरी शक्ति क्या है? मैं उसकी प्रलयंकारी आँधी में तृणवत् उड़ जाता हूँ।"

वह कहानी और यह 'चिन्ता' काव्य, एक तरह से देखा जाए तो इस 'मानव-हृदय की भूख' के ही साक्षात्कार से उपजे हैं। कहानी में एक दूसरा क़ैदी पात्र है

दिनमणि, जो कहता है—"मेरे और संसार के मध्य में एक अलोक तथ्य की भाँति सदा उन पाँच वर्षों का अन्तर रहेगा, जो मैंने जेल में बिताये हैं।" ऐसा लगता है जैसे अज्ञेय साहित्य में 'चिन्ता' की स्थिति कुछ उसी तरह के 'अलोक तथ्य' जैसी है।

'कोठरी की बात' के सुशील का मर्म-कथन है : "मानवता और प्रकृति एक दूसरे के सामने खड़े हो रहे हैं। मानवता की एक ललकार है, किन्तु उसमें डर का भाव निहित है, प्रकृति का भाव सम्पूर्ण उपेक्षापूर्ण है, किन्तु उपेक्षा में एक कविता, एक प्रशान्त भव्य विराट तत्त्व है...।" इसी के समानान्तर यहाँ चिन्ता के काव्य-नायक की बात सुनिए :

"मैं अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिए बलि हो जाना चाहता हूँ। तुम मेरे बलिदान का खोखलापन दिखाकर मेरी हत्या कर रही हो।

हम दोनों एक-दूसरे के आखेट हैं और अनिवार्य, अटल मनोनियोग से एक-दूसरे का पीछा कर रहे हैं।"

जैसाकि उपर्युक्त उद्धरणों से झलका ही होगा, 'चिन्ता' की तरह 'कोठरी की बात' कहानी में भी विद्रोह और प्रेम की आत्यन्तिक स्थितियों का आत्यन्तिक काल-विद्ध चित्रण हुआ है जिनमें से गुज़रते हुए कभी हमें लगता है हम 'चिन्ता' के काव्य-नायक की आवाज़ सुन पा रहे हैं, कभी लगता है, यह 'शेखर' की आवाज़ है तो कभी वह 'उत्तर प्रियदर्शी' के नरक की ओर इंगित करती लगती है। दरअसल, देखा जाए तो 'चिन्ता' में भावनाओं, अनुभूतियों का एक पूरा वर्णपट है : स्वर्ग और नरक के दो छोरों को मिलाता हुआ :

"जान लिया तब प्रेम रहा क्या ? नीरस प्राणहीन आलिंगन
अर्थहीन ममता की बातें अनमिट एक जुगुप्सा का क्षण"

—'चिन्ता' [विश्वप्रिया-36]

"जीवन बीता जा रहा है। प्रत्येक वस्तु बीती जा रही है।...किन्तु इस अनन्त नश्वरता में एक तथ्य रह जाएगा— नकारात्मक तथ्य, किन्तु तथ्य कि एक क्षण-भर के लिए हम-तुम इस निरर्थक तुमुल के अंश नहीं रहे थे, कि उस क्षण-भर के लिए हम दोनों ने अपने को पूर्णतया मटियामेट कर दिया था।"

[विश्वप्रिया-62]

'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास के पाठकों को याद होगा कि उसके एक खण्ड का नाम 'प्रकृति और पुरुष' है। यह इस काव्य-संग्रह का नाम भी हो सकता था। 'विश्वप्रिया' और 'एकायन' शीर्षक दो क्रमागत काव्यों के इस योगफल के लिए

'चिन्ता' नाम एकाधिक अर्थ में सार्थक लगता है। यों तो 'विश्वप्रिया' मानो प्रकृति की ओर से पुरुष को सम्बोधित और निवेदित है और 'एकायन' मानो प्रकृति की ओर से पुरुष को सम्बोधित काव्य, किन्तु 'प्रकृति और पुरुष' शीर्षक से जो दार्शनिकता व्यंजित होती है, उस दार्शनिकता से अज्ञेय का सम्बन्ध वैसा नहीं है जैसा, मसलन, जयशंकर प्रसाद का है। सम्बन्ध तो निस्सन्देह है, किन्तु उससे अलग और लगभग उलटा, जो छायावादी-रहस्यवादी कवि का था। कवि-आलोचक विजयदेवनारायण साही ने लिखा है, "प्रसाद अनुभूति को दर्शन में घुलानेवाले कवि हैं, जबकि अज्ञेय ने दर्शन को अनुभूति में घुलाने की राह निकाली।" यह सूत्र निर्विवाद रूप से स्वीकार्य न हो, तो भी प्रसाद की परम्परा में प्रसाद के बाद के अगले मोड़ की कविता को समझने में मददगार अवश्य है। हमने 'कोठरी की बात' कहानी के 'एक्जिस्टेंशियल' स्वाद का उल्लेख करते हुए 'चिन्ता' को उससे जोड़ा था तो अकारण नहीं जोड़ा था। अस्तित्ववादी दर्शन (हाइडेगर, यास्पर्स आदि) ने हमारे *समय में जो एक जरूरी काम किया वह यही किया : दर्शन को अनुभूति* में घुलाते हुए स्वयं दर्शन को उसकी आधुनिक अगति से उबारने की राह निकाली। साहित्यिक संवेदना के स्तर पर हमारी अपनी परिस्थिति को अज्ञेय का योगदान कुछ इसी तरह का है, और वह इसीलिए सार्थक है कि उनका यह कार्य अपने मूलोद्गम में सर्वथा मौलिक और स्वतःस्फूर्त था : 'चिन्ता' और 'कोठरी की बात' दोनों ही अस्तित्ववाद की साहित्यिक छाया से सर्वथा मुक्त एक ऐसे स्वाधीन —हालाँकि संकटापन्न—व्यक्तित्व और अस्तित्व की मौलिक छटपटाहट को व्यक्त करनेवाली रचनाएँ हैं जो नितान्त अपनी परिस्थिति से जूझता हुआ आत्म-चेतना और आत्म-प्रत्यभिज्ञा की नयी राह के अन्वेषण में लगा हुआ है। चूँकि उसकी पीड़ा, उसकी जिज्ञासा मौलिक है, सच्चे अर्थों में आधुनिक है, इसीलिए वह परम्परा बनने में और परम्परा को भी नया जीवन, नयी गतिशीलता प्रदान करने में समर्थ है। 'कामायनी' में हमने पढ़ा था :

ओ चिन्ता की पहली रेखा
अरी विश्व-वन की व्याली !
ज्वालामुखी कंप के भीषण
प्रथम स्फोट-सी मतवाली !

अज्ञेय की 'चिन्ता' प्रसाद की 'चिन्ता' न हो, किन्तु वह उससे अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। वह भी 'अन्तःस्तल में फूट जगानेवाली' है। वह भी 'अरी हृदय की तृषित हूक—उन्मत्त वासना हाला' करके सम्बोधित की गयी है। 'चिन्ता' का कवि अपनी पुंजीभूत प्रणय-वेदना से जिस तरह 'विश्वक्षेत्र में खो जाने' का, 'विस्मृत हो जाने' का आह्वान करता है, वह 'आँसू' और 'कामायनी' की भाव-

भूमियों का भी स्मरण जगाता है। अपने आत्मावसाद और आत्मोद्‌बोधन दोनों की अभिव्यक्तियों में। 'आँसू' का कवि हृदय के समाधि बन जाने की बात करता है; 'चिन्ता' का कवि कहता है—'जो दुख और क्लेश मैंने देखे हैं, उन्हें अपने पास संचित कर लूँ—उससे एक विराट् समाधि बना लूँ जिसमें मृत्यु के बाद मेरा शरीर दब जाए।' 'चिन्ता' का कवि जिस 'प्राचीन अकथ्य कथा' को, 'आदिम प्रथम पुरुष की प्रणय-कथा' को सुनाना चाहता है, उसे क्या हम 'कामायनी' में भी नहीं सुन आये हैं? प्रसाद-काव्य के कई सारे बिम्ब अज्ञेय को भी प्रिय हैं जैसे निर्झर, प्रत्यंचा, टूटता तारा, सूना नभ, द्वीप, पक्षी, आँसू, इत्यादि। 'कसौटी' नाम की एक कविता में प्रसाद कहते हैं :

तिरस्कार कालिमा-कलित है, अविश्वास-सी पिच्छल है।
कौन कसौटी पर ठहरेगा, किसमें प्रचुर मनोबल है?
तपा चुके हो विरह-वह्नि में, काम जँचाने का न इसे
शुद्ध सुवर्ण हृदय है प्रियतम, तुमको शंका केवल है।

इसकी तुलना में 'चिन्ता' की निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों को रखकर देखा जा सकता है :

शायद तुम सच ही कहते थे—वह थी असली प्रेम-परीक्षा!
मेरे गोपनतम अन्तर के रक्तकणों से जीवन-दीक्षा!
पीड़ा थी वह, थी जघन्य भी, तुम थे उसके निर्मम दाता
तब क्यों मन आहत होकर भी, तुम पर रोष नहीं कर पाता!

कसौटी पर खरे उतरने का भाव दोनों जगह है। किन्तु 'जघन्य पीड़ा' सरीखे पद का प्रयोग छायावादी काव्य में असम्भव था। इसी तरह 'घृणा' की अर्थच्छाया भी यहाँ एकदम भिन्न है। चिन्ता का प्रणयी 'क्रूर' होकर भी इसलिए स्वीकार्य है कि कवि छायावादी काव्यभाषा का सहारा लेने को विवश होते हुए भी बात अपनी ही कह रहा है जोकि छायावादी कवि की 'बात' से अलग है। प्रसाद के 'आँसू' में हम पढ़ते हैं : 'नक्षत्र पतन के क्षण में उज्ज्वल होकर है जीता।'··· 'चिन्ता' का कवि, देखिए इसी बिम्ब का किस अर्थ में प्रयोग कर रहा है :

"जितनी बार मैं नभ में कोई तारा टूटकर गिरता हुआ देखती हूँ, उतनी बार मेरा अन्तर किसी पूर्वनिर्देशहीन प्रार्थना से कह उठता है, मुझे उससे अनन्त संयोग प्राप्त हो जाए।"

तारे के टूटने का यह बिम्ब अज्ञेय के यहाँ एकाधिक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार प्रसाद में बिम्ब प्रतीकत्व प्राप्त करने की ओर उन्मुख दीखते हैं, उसी प्रकार अज्ञेय में भी :

जब-जब सागर में मछली तड़पी
तब-तब हमने उसकी गहराई को जाना।
जब-जब उल्का
गिरा टूटकर—गिरा कहाँ
हमने सूने को अन्तहीन पहचाना।

—('टेर रहा सागर')

'चिन्ता' की कविताओं में आत्मदमन की घोर यातना है किन्तु अभिमान भी है। 'प्यार में अभिमान की पर कसक ही रोने नहीं देती'—अज्ञेय की बाद की कविताओं में भी यह अभिप्राय दुहराया जाता देखा जा सकता है। यहाँ समर्पण का, ऐक्य का क्षण भी छायावादी समर्पण जैसा नहीं है। यह 'मटियामेट' कर देने-वाला क्षण है और व्यक्त नहीं किया जा सकता। 'चिन्ता' का कवि जहाँ एक ओर यह उद्गार करता है कि "प्रेम आकाश की तरह स्वच्छ सरल है, हम और तुम उसमें उड़नेवाले पक्षी हैं, उसके असीम ऐक्य में लीन होकर भी हम एक-दूसरे के अधीन नहीं होते, अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं नष्ट करते", वहीं दूसरी ओर वह यह भी पाता है कि···"प्रेम अधिकार नहीं है, यह ज्ञान मुझे तभी होता है, जब मैं तुम्हें स्वायत्त कर लेता हूँ।"

उत्कट प्रेमानुभूति के भीतर भी स्वतंत्र व्यक्तित्व की यह चेतना, अलगाव का यह अहसास 'चिन्ता' की प्रेमानुभूति को—छायावादी प्रेमानुभूति से अलग कर देता है। यह आत्म-चेतना का आधुनिक अभिप्राय भी है, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का वह त्रासद पहलू भी, जिसे आधुनिक पश्चिमी साहित्य में डी. एच. लॉरेंस ने सबसे तीखे रूप में पकड़ा था। 'चिन्ता' में प्रेम की ही अजस्रता नहीं, 'तुम, हम और प्रेम' —इन तीनों के संघर्षण से उत्पन्न होनेवाली पीड़ा की अजस्रता भी है। किन्तु इस पीड़ा को भी अतिक्रान्त कर जाने का जैसा भाव अज्ञेय में आगे झलकता है, वह उन्हें पश्चिमी कवि से अलग कर देता है।

'चिन्ता' का काव्यनायक एक प्राणसखा चाहता है। वह उसे मिलकर भी नहीं मिलता। क्या नियति ने उसे वंचित रखा था? 'नहीं', कवि कहता है, "नियति का दोष नहीं है।" तब फिर क्या? 'अहंकार?'···'नहीं!' कवि कहता है : "वह था अपने बल का अदम्य अभिमान···कि मैं केवल पुरुष नहीं, केवल मानव नहीं, एक स्वतंत्र और सक्रिय शक्ति हूँ।"

यह स्वतंत्र और सक्रिय शक्ति क्या है, यदि वह 'अहंकार' जैसी दार्शनिक अवधारणा से नहीं झिलती? 'चिन्ता' का काव्य-पुरुष कहता है : "मेरे ही हृदय में

कुछ ऐसा कठोर, ऐसा अस्पृश्य, ऐसा प्रतारणापूर्ण विकर्षण था···मेरे समीप आकर भी कोई मुझसे अभिन्न नहीं हो सकता था। उस अमोघ सत्त्व पर किसी का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता था···"

'चिन्ता' की कविताएँ जीवन्त आवेग की सच्चाइयों को, अनुभव के तथ्यों को पकड़ती हैं, महज भाव-कल्पना की छायाओं को नहीं। 'रागदीप्त सच' का कवि का दावा, सच पूछिए तो, यहीं से आरम्भ हो जाता है। 'चिन्ता' की एक कविता कहती है—"मैं तुम्हें सम्पूर्णतः जान गया हूँ। तुम क्षितिज की संधि रेखा के आकाश हो और मैं वहीं की पृथ्वी। हम दोनों अभिन्न हैं तथापि हमारे आकार अलग-अलग हैं। हम दोनों के प्रसार सीमित हैं, फिर भी हमारा मिलन अनन्त और अखण्ड है।" क्या इसे पढ़ते हुए हमारे भीतर अनायास ही प्रसाद के उस प्रसिद्ध गीत की पंक्तियाँ प्रतिध्वनित नहीं होने लगतीं ?

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
इसमें क्या है धरा, सुनो
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज, उदार बनो।

क्या ऐसा नहीं लगता कि अन्तर्जगत की अराजकता और अव्यवस्था पर नियंत्रण पाने की दोनों कवियों की अन्तःप्रक्रियाओं में कहीं कुछ ऐसा तत्त्व है जो उभयनिष्ठ है ? इस अन्तर के बावजूद, कि अज्ञेय में 'जानने' का एक अतिरिक्त आत्म-चेतन आग्रह है, जो उस तरह प्रसाद में नहीं है। क्यों होता ? ज्ञान और अनुभूति के बीच का यह विरोधाभास, यह पहेली ही तो दोनों को अलग करती है। अज्ञेय इस अन्तर्विरोध को पहचानते हैं कि "जान लेना अलग हो जाना है और मिलना भूल जाना है।" संक्रान्ति काल के स्व-चेतना से पीड़ित कवि को ऐसी आत्म-विस्मृति की सुविधा ही कहाँ है ? अज्ञेय की एक कविता का यह अन्तर्द्वन्द्व देखिए :

ज्ञान कहता है कि जो आवृत है, उससे मिलना नहीं हो सकता
यद्यपि मिलन अनुभूति का क्षेत्र है।
अनुभूति कहती है जो नंगा है, वह सुन्दर नहीं है
यद्यपि सौंदर्य-बोध ज्ञान का क्षेत्र है।

प्रसाद के सामने यह समस्या इस रूप में प्रस्तुत नहीं होती। यों उनमें संघर्ष-तत्त्व किसी भी अन्य छायावादी कवि से अधिक है और अपने भावों के मनन-मंथन की प्रवृत्ति भी, और यही अज्ञेय को उनसे जोड़ता भी है। किन्तु प्रसाद इस तनाव को बहुत देर टिकने नहीं देते। 'आँसू' और 'कामायनी' को ही देख लीजिए : एक

का समापन 'करुणा' के आदर्श में होता है, दूसरे का 'आनन्द' और 'सामरस्य' में। दोनों ही भारतीय चिन्ताधारा की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ हैं और अज्ञेय के काव्य में आदर्श के स्तर पर दोनों के प्रति उन्मुखता देखी जा सकती है। किन्तु यथार्थ के ग्रहण और प्रस्तुतीकरण का दोनों का तरीक़ा काफ़ी अलग पड़ जाता है। अज्ञेय के प्रणयी की तरह प्रसाद का पुरुष यह नहीं कह सकता था कि "तुम मेरे अस्तित्व की सार हो, किन्तु स्वयं नहीं हो।" स्पष्ट ही, हिन्दी कविता के भाव-बोध के इतिहास में, अज्ञेय वहाँ से प्रारम्भ करते हैं जहाँ प्रसाद ने उसे छोड़ा था।

शेखर : एक जीवनी

'भग्नदूत' और 'चिन्ता' का प्रकाशन हिन्दी साहित्य के लिए सनसनीखेज घटना नहीं बना, किन्तु 'शेखर : एक जीवनी' के छपते ही तहलका मच गया। 'शेखर' में आखिर ऐसा क्या था ?

हमने देखा कि 'चिन्ता' के कवि का कथ्य छायावादी उस तरह नहीं था। भावनाओं के चित्रण में वहाँ एक नये क़िस्म की तात्कालिकता और तीव्रता थी—मानो वे भावनाएँ नहीं, भाव-जगत् में उथल-पुथल मचानेवाली घटनाएँ हों। उन घटनाओं का चिन्तन भी छायावादी चिन्तनशीलता से भिन्न था। किन्तु इस भिन्नता की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया। इसलिए कि उन कविताओं की भाषा अभी छायावादी काव्यभाषा से मुक्त नहीं हो पायी थी। शायद इसीलिए उसमें अतिरिक्त भावुकता और अतिरिक्त बौद्धिकता प्रतीत हुई होगी। तब तक छायावादी काव्य की संभावनाएँ चुक गयी थीं : प्रगतिवादी कविताओं की बाढ़ आयी हुई थी अन्तर्जगत् से लोग ऊब चुके थे। ऐसे मे 'चिन्ता' पर ध्यान कैसे जाता ? छायावादी शब्दावली के अन्तराल में छुपी उस नयी विद्रोही अनुभूति के कथ्य से लोग कैसे संवेदित होते ? 'चिन्ता' के पीछे भी कहीं व्यक्तित्व की खोज का ही आत्मसंघर्ष था। किन्तु वह व्यक्तित्व अभी अस्फुट था, वह खोज भी अनुभव के एक ही आयाम पर केन्द्रित थी, जिसे छायावाद ने अपने समय में एक ख़ास लीक पर डाल दिया था। 'शेखर : एक जीवनी' में एक व्यक्तित्व के बनने की अनिवार्य प्रक्रिया पहली बार उद्घाटित हुई।

पश्चिम के साहित्य में व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया पर खास जोर दिया जाता रहा है। अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यास आत्मकथात्मक रहे हैं। ठेठ आधुनिक साहित्य में भी ज्वाइस के 'पोर्टेट आव ए यंग आर्टिस्ट' अथवा मार्सेल प्रूस्त के 'रिम्ब्रेन्स ऑव थिंग्ज पास्ट' अथवा लारेंस के 'सन्स एण्ड लवर्स' सरीखी कलाकार-व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया को बारीकियों में उद्घाटित करनेवाली कृतियों का ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा है। हमारी परम्परा में व्यक्ति अपने आपमें उस तरह साहित्यिक जिज्ञासा के केन्द्र में कभी रहा नहीं। इसलिए भी 'शेखर : एक जीवनी' हिन्दी कथा-साहित्य में एक अभूतपूर्व-सी घटना थी। एक निर्वैयक्तिक परम्परा के

मानस की भाषा को—संस्कृत शब्दावली को—वैयक्तिक 'अहं' के सूक्ष्म-चित्रण में सक्षम बना देना भी इस उपन्यास की उपलब्धि थी। इसके अलावा काल और चेतना के सम्बन्ध को उपन्यास के रचना-विधान में कुशलतापूर्वक विश्वसनीय ढंग से निभा पाना भी। प्राकृतिक परिवेश भी इस तरह पहले कभी चित्त की अवस्थाओं के संवेदनशील सूक्ष्म चित्रण के लिए प्रयुक्त नहीं हो पाया था।

लेखक की स्वयं की आत्म-स्वीकृति के अनुसार 'शेखर' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे गये 'विज़न' को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है। उपन्यास का पहला ही वाक्य एक शब्द है—'फाँसी'। शेखर इस आसन्न संभावना के सामने खड़ा है कि उसे फाँसी हो सकती है। तब इस क्रांतिकारी लेखक के सामने उसकी स्थिति एक समस्या के रूप में प्रस्तुत हुई : अगर यही उसके जीवन का अन्त है तो उस जीवन का अर्थ क्या है, सिद्धि क्या है—व्यक्ति, समाज और मानव के लिए ?···"इस जिज्ञासा की अनासक्त निर्ममता और यातना की सर्वभेदी दृष्टि के आगे मेरा जीवन धीरे-धीरे खुलने लगा, एक निजी और अप्रासंगिक विसंगति के रूप में नहीं, एक घटना के रूप में, एक सामाजिक तथ्य के रूप में, और धीरे-धीरे कार्य-कारण परम्परा के सूत्र सुलझ-सुलझकर हाथ मे आने लगे।"—यह स्वयं लेखक का कथन है उपन्यास की भूमिका मे।

'शेखर : एक जीवनी' का क्रांतिकारी नायक अपने जीवन में इसी नियति के सूत्र को पहचानने का यत्न करता है—'जीवन की विज्ञान संगत कार्य-कारण-परम्परा' को। प्रौढ़ अज्ञेय के जीवन-दर्शन का सूत्र है : 'जो मैं हूँ, वही मैं बन जाऊँ'। इसमें और शेखर के नियति-दर्शन में अन्तर तो अवश्य होना चाहिए क्योंकि लेखक स्वयं शेखर से अलग खड़ा होकर उसके 'हेतुवाद' की आलोचना तभी करने लगा था। किन्तु तब, फिर लगभग यही वाक्य शेखर के मुख मे एक जगह क्यों कहलवाया गया, यह समझ में नहीं आता। यह तो स्पष्ट ही है कि शेखर का स्रष्टा 'आँगन के पार द्वार' तक आते-आते इस हेतुवाद को बहुत पीछे छोड़ आया था और यह पहचानने लगा था कि

कहीं बड़े गहरे में
स्वैर हैं सभी नियम
सभी सर्जन केवल
आँचल पसार कर लेना"

—(आँगन के पार द्वार)

अपनी भूमिका में लेखक ने आत्म-घटित और आत्मानुभूति के बीच अन्तर किया है—एलियट की उक्ति को उद्धृत करते हुए कि "भोगनेवाले प्राणी और रचनेवाले कलाकार के बीच सदा अन्तर रहता है और जितना बड़ा कलाकार

होता है, उतना ही भारी यह अन्तर होगा।" लेखक ने यह भी स्वीकार किया है कि "शेखर में मेरापन कुछ अधिक है, एलियट का आदर्श मुझसे नहीं निभ सका है।" यह भी कि "शेखर एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज़ है, किन्तु साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है।"

उपन्यास के तीन भागों का उल्लेख भी भूमिका में किया गया था। किन्तु तीसरा भाग लेखक के जीवन काल में तो नहीं ही छपा। दोनों भागों में चार-चार खण्ड हैं। प्रथम भाग में 'प्रवेश' समूचे उपन्यास के सार-समुच्चय की तरह विन्यस्त है, जिसमें शेखर की स्मृति किसी पूर्वापर संगति में नहीं, बल्कि भावाविष्ट कल्पना की कौंध की तरह काम करती दिखायी गयी है। इस अत्यन्त प्रभावशाली 'प्रवेश' के उपरान्त ही नियमित कथा-प्रवाह आरम्भ होता है। 'ऊषा और ईश्वर', 'बीज और अंकुर', 'प्रकृति और पुरुष' तथा 'पुरुष और परिस्थिति' ये चार खण्ड अपने शीर्षकों की सांकेतिक व्यंजना के अनुरूप बड़े सुनियोजित ढंग से शेखर को शैशव से छात्रावस्था तक ले आते हैं। वह छात्रावस्था शेखर के राजनीतिक बन्दी बनने तक दूसरे भाग में भी 'पुरुष और परिस्थिति' शीर्षक पहले खण्ड के अन्तर्गत जारी रहता है। बन्दी जीवन के अनुभव दूसरे खण्ड—'बन्धन और जिज्ञासा' में समाकलित हुए हैं। तीसरे खण्ड का नाम 'शशि और शेखर' है तथा चौथे का 'धागे, रस्सियाँ, गुंझर'। उपन्यास के 'प्रवेश' में शेखर द्वारा अपने जीवन के प्रत्यवलोकन के सिलसिले में शशि से ही आरम्भ करना संगीत के मुखड़े की तरह अनिवार्य लग उठता है :

> "सबसे पहले तुम, शशि
>
> इसलिए नहीं कि तुम जीवन में सबसे पहले आयी या कि तुम सबसे ताज़ी स्मृति हो। इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है—ठीक वैसे ही, जैसे तलवार में धार होना सान की पूर्व कल्पना करता है। तुम वह सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज़ होता रहा है—जिस पर मँज-मँजकर मैं कुछ बना हूँ जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं है।"

'प्रवेश' के इस स्मरण में शशि के पूरे जीवन की मानो एक कौंध में देखी गयी कई छवियाँ मूर्त्त हो आयी हैं : लगभग उलटे क्रम में। शेखर के सामने ही शशि की अन्तिम घड़ियों का चित्र, जेल से निकलकर पहली बार शशि से शेखर की भेंट, शशि की ससुराल का चित्र, माँ के साथ शशि के पहलेवाले घर का और उस घर की 'देवी' के रूप में शशि का स्मरण, शशि के गाने का स्मरण, यह भी कि विद्रोही शेखर के लिए प्रेरणा बनी थी यह गानेवाली शशि, किन्तु कवि शेखर के लिए शशि की 'हँसी' प्रेरणा है। अन्त में, फिर से आसन्न बिछोह की वेदना में एक

काव्य-पंक्ति उभरती है—'चक्रवाकवधुके ! आमंत्रयस्व सहचरं। उपस्थिता रजनी।' 'चिन्ता' की एक कविता का आरम्भ भी इसी पंक्ति से होता है।

वैसे उपन्यास का सबसे रोचक, सजीव और प्रभावशाली हिस्सा तो वही है जो शेखर के बाल्यकाल की घटनाओं से जुड़ा है। मानसबल झील पर बाल्यकाल की एक यात्रा से कथा आरम्भ होती है। शेखर अपनी बहिन के साथ बजरे में बैठा है। उसकी आयु कोई आठ-एक वर्ष की होगी, बहिन की तेरह वर्ष। बहिन रघुवंश का एक श्लोक गा रही है। बालक झील में से श्वेत कमल तोड़-तोड़कर माला गूँथता है और बहिन सरस्वती को पहना देता है। 'प्रवेश' में पहली घटना यही है जो उपन्यास के कलेवर में काफ़ी बाद में आती है। उपन्यास में कथा-प्रवाह का आरम्भ खँड़हरों से लगे एक खेमे में शेखर के जन्म से ही होता है। इस प्रसंग का समापन होता है इस आलोचनात्मक वाक्य में, कि 'बोध होने से पहले ही बालक का जीवन एक रूढ़ि में बँध गया।'

तदुपरांत *मानव जीवन* का *अनुशासन करनेवाली तीन महती प्रेरणाओं* (अहन्ता, भय और सेक्स) से सम्बद्ध तीन घटनाएँ आती हैं : एक तो लेटरबॉक्स के घोड़े की सवारी, दूसरे भुस भरे बाघ की असलियत का उद्‌घाटन होने पर शेखर की प्रतिक्रिया *तथा तीसरे—'एक भद्दी बीभत्स स्मृति' जिसका खुलासा नहीं* किया गया। इसके बाद 'शिक्षा' का दौर आता है और विद्रोही बालक द्वारा उसके क्रमिक तिरस्कार की घटनाएँ। फिर पालतू पक्षियों के निरीक्षण से शेखर एक और संसार का साक्षात्कार करता है जिसमें स्वच्छन्दता है और विश्वास जिसका एकमात्र नियम है।···"वही होओ जोकि तुम हो।"···मानव जगत् में इसके विपरीत शेखर का अन्याय, भेद-भाव, अन्धविश्वास का परिचय मिलता है। फूलाँ नामक एक विधवा की लड़की का संक्षिप्त वृत्तान्त जितना मार्मिक है उतना ही रसोइया महाराज की कथा हास्यास्पद। छोटे-से-छोटे मनुष्य में भी आत्माभिमान की उपस्थिति का प्रमाण शेखर को कुछ आश्वासन देता है। इसी तरह एक सुन्दर घोड़े को दौड़ते हुए देखना बालक शेखर के लिए लय के सौंदर्य-तत्त्व से पहला साक्षात्कार है।···"शायद तभी से यह जीवन सर्वत्र उस वस्तु को खोजने लगा"··· वृत्तकार शेखर स्वयं कहता है। लेखकत्व का शौक़ भी उसका पाँच वर्ष की उम्र में ही जाग जाता है और वह पुस्तक-प्रकरण बड़ा दिलचस्प है। उसी के आस-पास चार बरस के शेखर की भेंट तीन बरस की 'शिशु-सखी' शशि से होती है, जिसमें शेखर शशि के हाथ से लोटा छीनकर उसके माथे पर दे मारता है। इसके दूसरे दिन ही मौसी शशि को लेकर चली जाती है और फिर पूरे बारह साल तक शशि से भेंट नहीं हो पाती।

शेखर के जीवन में मातृपक्ष की भूमिका अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। कुछ घटनाएँ हैं माँ के उस पर अविश्वास की, जिसमे उसे चोट पहुँचती है, घृणा हो जाती है।

उसी के शब्दों में—"पिता आवेश में आततायी हैं और, मा आवेश की कमी के कारण निर्दय।" किंतु आवेश उतर जाने पर पिता मित्रवत् लगने लगते हैं। शेखर को अपने पिता से सहानुभूति है, माँ से नहीं। किंतु एक घटना ऐसी घटती है जिसके कारण पिता भी शेखर की नज़रों में गिर जाते है। गाँधीजी की अहिंसा को लेकर बालक शेखर की जो भद्द उड़ती है पिता के एक मित्र के सामने, उसके बाद—"गाँधीजी गये, गाँधीवाद भी गया और शेखर के देवता उसके पिता भी फिर वही कभी नहीं हुए।"

इन अनुभवों ने शेखर को वेध्य और विद्रोही बना डाला।···"ईश्वर को और अपने जीवन को नाऽस्ति कहकर शेखर मानो अपने चारों ओर के जीवन के लिए नंगा हो गया।" छोटी बहिन का जन्म होने पर उसके भीतर फिर वही दुर्दान्त प्रश्न 'कैसे' सिर उठाता है जिसका संतोषजनक उत्तर कोई नहीं देता। एक बड़ी बहिन ही घर में उससे सहानुभूति रखती है। भाई उसे 'बहिन जी की दुम' कहके चिढ़ाते हैं। इतने में बहिन की भी शादी हो जाती है। शेखर अकेला पड़ जाता है। एक लड़की शारदा उसके जीवन में आती है। शेखर लाहौर जाता है मैट्रिक की परीक्षा देने और जब तक लौट के आता है तब तक वह भी 'गरुड़-नीड़' से विदा हो चुकी होती है। वर्षों बाद एक बार फिर उससे भेंट भी होती है। पर निष्फल।

'मैं क्यों हार मानूँ?'—माँ के अविश्वास की असह्य चोट से तिलमिलाकर शेखर सोचता है। "मैं योग्य बनूँगा। सारे संसार का आदर और विश्वास पाकर उसे माँ के मुँह पर पटक दूँगा।" शेखर घृणा और वासना का महत्त्व लगभग एक साथ पहचानता है। विवाहितों के लिए लिखी गयी एक पुस्तक उसके पढ़ने में आती है और उसे धक्का लगता है कि "सारी चीजों की गति एक ही घृणित पाप कर्म की ओर है।···यह है ज्ञान, यह है सत्य।" इसके आगे—स्वयं उपन्यासकार के शब्दों में—"इसके आगे अंधकार का एक परदा है। व्यक्ति का अभिन्नतम अंग"। यहाँ पर रोमां रोलां का एक वाक्य शेखर उद्धृत करता है—"सत्य उनके लिए है, जिनमें उसे सह लेने की शक्ति है।"

पन्द्रह वर्ष का शेखर अब मद्रास में पढ़ रहा है। वहाँ भी सवर्णों से विद्रोह करके अछूतों के हॉस्टल में चला जाता है। यहाँ उसे सदाशिव सरीखे कुछ अच्छे मित्र मिलते हैं जिनके साथ मिलकर वह समाज-सुधार के कुछ कार्यक्रम भी चलाता है। उपन्यास का पहला भाग इसी बिन्दु पर समाप्त होता है।

दूसरे भाग के आरम्भ में शेखर नीलगिरि छोड़कर पंजाब की ओर प्रस्थान करता दिखायी देता है। उसके पिता का तबादला हो गया है। लाहौर के छात्रावास जीवन में वह दो दलों के सम्पर्क में आता है। एक दल में सभ्यता के सुधार की धूम है पर वे शेखर को 'सदिच्छाओं के बलहीन पुंज' जान पड़ते हैं। शशि से भेंट होती है जो उससे कहती है, "दु:ख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे

दूर करने की कोशिश करता है।" लाहौर कांग्रेस में स्वयंसेवकी करते हुए एक झगड़े के कारण शेखर गिरफ़्तार करके जेल भेज दिया जाता है। जेल में बाबा मदनसिंह, रामजी, और मोहसिन से भेंट होती है। शशि का पत्र आता है कि उसका विवाह तय किया जा रहा है। शेखर शशि के अन्तर्द्वन्द्व को पर्याप्त अन्तर्दृष्टि के साथ नहीं समझ पाता और दोनों सूरतों में सहानुभूति का वचन देता है। लेकिन बाद में पछताता भी है।

तृतीय खण्ड में जेल से छूटकर शेखर शशि की ससुराल में जाकर शशि और उसके पति से मिलता है। अब वह एक अलग कमरा लेकर क्रांति की प्रेरणा देने वाले साहित्य की रचना करने का संकल्प उठाता है। इस बीच शेखर की माँ का देहान्त हो जाता है। पिता उसके पास आते हैं। शेखर को समझाते हैं। पर शेखर किसी भी तरह की 'सुरक्षा' के विरुद्ध अड़ा हुआ है। अनेक कड़वे अनुभवों से गुजरते हुए वह एक दिन आत्महत्या पर उतारू हो जाता है, पर किसी तरह बचा लिया जाता है। शशि उससे मिलने आयी थी और उसकी स्थिति से गहरी सहानुभूति के कारण वह उस रात वहीं रह जाती है। सुबह अपने घर लौटती है तो पति उसे घर से निकाल देता है। शेखर वहाँ जाता है तो उसका भी घोर अपमान होता है। शशि को उसके पति ने लात मारी थी जिससे उसका लीवर क्षतिग्रस्त हो जाता है। शेखर की अनवरत सेवा-शुश्रुषा से वह बीच में स्वास्थ्य-लाभ भी करती है और उसके बौद्धिक-सामाजिक क्रियाकलापों में सहयोग भी करती है किन्तु अन्ततः वह चोट उसके प्राण हर ही लेती है। शशि के जीवन की ये अन्तिम घड़ियाँ उपन्यास का मर्मस्थल हैं।······"रात मूर्त्तिमती करुणा है। शेखर, तुमने आरम्भ से ही अपनी नियति को क्यों नही देखा"?—शेखर सोचता है। यह भी कि "···जीवन के महान क्षणों में भी पूर्णता नहीं है। तन्मयता नहीं है। है एक अद्भुत असंगत तटस्थता—अपने को अपनेपन की सम्पूर्णता से वहिष्कृत कर देता दर्शकपन।"

यहाँ पर कथा-प्रवाह में एकाएक लेखक स्वयं उपस्थित होकर बोलने लगता है··· "एक सीमा है जिसके आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी बनाये नहीं रख सकता। उस दिन का भोगनेवाला और आज का वृत्तकार दोनों एक हो जाते हैं क्योंकि अन्ततः शेखर के जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का अर्थ है और जो सूत्र मुझे पकड़ने हैं, उनके प्रति मैं अनासक्त नहीं हूँ।"···अकस्मात् इस बिन्दु पर शशि कौंध जाती है और शेखर सोचता है—"अगर उसके जीवन की परिस्थितियाँ भिन्न होतीं!"···वह इस विडम्बना से मर्माहत अनुभव करता है कि··· "उस विशाल आत्मा की सामर्थ्य को मैंने देखा जो उसके टूटने का निमित्त बना।"

स्पष्ट ही, यह शेखर के जीवन की सबसे त्रासद और अनसुलझ पहेली है। इससे आगे कथा कैसे बढ़े? दूसरा भाग जिन वाक्यों के साथ समाप्त होता है उन्हीं

में से उद्धृत करते हुए इस अध्याय को विराम देना उपयुक्त होगा।

"....इसके आगे कथा नहीं है, अनुक्रम नहीं है, जीवन ने अर्थ खो दिया है। मैं एक छाया हूँ।

छाया, यदि फिर कुछ हो तो ऐसा ही हो, हम-तुम भी ऐसे ही हों—अलग, पर सदा एक-दूसरे के प्रति अग्रसर होने में सचेष्ट।

छाया, तुम्हें भूलने नहीं जाता, तुम साथ चलो—पहले मौसी के पास और गौरा के पास, फिर आगे, कर्म में विस्मरण नहीं है। शशि, कर्म में तुम हो चिरन्तन प्रेरणा—चिरन्तन, क्योंकि मुक्त और मोक्षदा।"

क्या यह आकस्मिक है कि 'चिन्ता' काव्य का आरम्भ भी इस 'छाया' को ही सम्बोधित है?

'इत्यलम्' तक

'इत्यलम्' में कवि अज्ञेय की 1933 से 1945 तक की कविताएँ ('चिन्ता' को छोड़कर) संग्रहीत हैं। 'भग्नदूत' की कविताएँ भी इसी में शामिल हैं, जिनमें कवि पर पड़ रहे प्रभावों को तथा उसके काव्याभ्यास को भी स्पष्ट देखा जा सकता है। विपरीत मनोवृत्तियों का द्वन्द्व देखना हो तो 'नहीं तेरे चरणों पर' शीर्षक कविता देखिए जिसमें कवि कहता है : "देव आऊँगा तेरे द्वार/किन्तु नहीं दूँगा तेरे चरणों में यह उपहार।" यही भाव और भी सघन रूप मे एक दूसरी कविता 'असीम प्रणय की तृष्णा' में व्यक्त हुआ है, जहाँ कवि देव की विपुला विभुता के सामने अपनी तुच्छातितुच्छता का अनुभव करते हुए जो-जो चीजें वह दे सकता है—कविता, चित्र, संगीत आदि—उन-उन चीज़ों को उपहार के अयोग्य पाता हुआ कहता है :

"अपनी कविता ? भव की छोटी घटनाएँ जिसका आधार
कसे उसकी परिमा में भर दूँ घहराता पारावार ?"

कवि पाता है कि सम्पूर्ण तादात्म्य से कम कोई भी उपहार उस 'देव' के योग्य नहीं हो सकता जो 'धमनी में जीवन-रस की तरह', 'किरणों में आलोक की तरह' व्याप्त है।

कोई तीस-पैंतीस बरस बाद प्रौढ़ावस्था को प्राप्त इसी कवि को हम उसकी *अन्तःप्रक्रियाओं के संकलन 'भवन्ती' में 'ब्रह्म कृपा' की बात करते सुनते हैं।* किन्तु अभी, इस चरण पर क्या वह संभव है—नश्वरता की संज्ञा खोकर, विश्वदेव से एकाकार हो जाने की अनुभूति को पा लेना ? निश्चय ही वह 'आत्मविस्मरणकारी उन्मत्तता' का ही आग्रह था, जिसके चलते कवि प्रेम की और, फिर क्रांति की आग में अपनेको झोंक सका। निश्चय ही, 'संसार को भुलाने' की दुर्दम्य प्रेरणा ने ही उसे चिर-यायावरी के पथ पर चलने को बाध्य किया था। किन्तु क्या उसका सदा जाग्रत शिवत्व-बोध उसे अपने सामाजिक व्यक्तित्व को संगठित करने की प्रेरणा भी इसके साथ-साथ ही नही देता रहा ? प्रसाद ने 'आँसू' में लिखा था—"चुन-चुन ले रे कन-कन से, जगती की सजग व्यथाएँ···।" अज्ञेय का कवि भी एक

कविता में 'अखिल विश्व की पीड़ा संचित करने' की बात करता है क्योंकि वह 'जीवन का कवि' है और उसके 'असंख्य हृदयों का गाथाकार।'

'वन-पारावत' में कवि कबूतरों की उन्मुक्त प्रणय-लीला की नैसर्गिकता से अभिभूत होकर मानव-नियति की विडम्बना के प्रति एक विक्षुब्ध विद्रोह से भर जाता है। ऐसी कविताएँ कवि के विकास-क्रम में आगे भी मिलती हैं, जहाँ प्रकृति एक उच्चतर नैतिक बोध के ज्वलन्त दृष्टान्त की तरह आती है। 'चाइल्ड इज़ द फ़ादर ऑव मैन' शीर्षक कविता कहती है कि बालसूर्य लाल होता है, इसलिए मध्याह्न में भी प्रतापी होता है, जबकि मानव के बच्चे को हम शुरू से ही दबना-झुकना सिखाते है और फिर भी यह दुराशा करते है कि बड़े होकर वह सिर ऊँचा करेगा। स्पष्ट है कि इन कविताओं में सामान्यीकरण और सरलीकरण से नहीं बचा जा सका है। फिर भी कुछ कविताएँ अपनी विशिष्ट अनुभूति और प्रभावशाली बिम्बात्मकता से हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। 'संध्या की किरण-परी ने' ऐसी ही एक कविता है, जिसमें एक निश्चित वास्तविक अनुभूति-क्षण का जीवन्त स्पन्दन बोलता है :

देखी उस अरुण किरण ने कुल पर्वत-माला श्यामल
बस एक शृंग पर हिम का, था कंपित कंचन झलमल
प्राणों में हाय पुरानी क्यों कसक जग उठी सहसा
वेदना-व्योम से मानो खोया-सा स्मृति-घन बरसा
तेरी उस अन्त घड़ी में, तेरी आँखों में जीवन
ऐसा ही चमक उठा था, तेरा अंतिम आँसू-कन।

ध्यान देने की बात है कि प्रसाद के 'आँसू' की प्रसिद्ध पंक्ति के तत्काल स्मरण में कौंध जाने से यहाँ कविता की गुणवत्ता कम नहीं होती, बल्कि और सघन हो जाती है। विदग्ध पाठक को यह कविता 'शेखर : एक जीवनी' के एक अत्यन्त मार्मिक क्षण की याद भी दिलाएगी। यह कविता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि जो सचमुच मौलिक और अद्वितीय होता है अनुभव में, वही सचमुच 'पारंपरिक' भी बनता है।

देशभक्ति, बलिदान इत्यादि अन्यान्य भावों के बावजूद 'इत्यलम्' का स्थायी भाव प्रेमानुभूति ही है : अत्यन्त वैयक्तिक प्रेमानुभूति, जो अपनी तीव्रता और गहनता में ही एक तरह की निर्वैयक्तिक व्यापकता को छू लेती है। 'कीर की पुकार' वही है, वही 'स्मृति' की 'आदिम प्रेयसी' है और वही 'अंतिम प्रणयिनि'। वही 'राखी' की भी सम्बोध्य है।

भूल गये हम कौन कौन है, कौन किसे अब बाँधे राखी।
अपनी अचिर अभिन्न एकता की बस यही भूल हो साखी॥

लेखक की यह अनुभूति उसके मन-प्राण में स्थायी भाव की तरह बद्धमूल है जो उसकी समस्त जीवनानुभूति को आलोकित करती है। चिन्ता की 'विश्वप्रिया' इसीलिए विश्वप्रिया है कि वह एकायन में इसी 'अचिर अभिन्न एकता' को साखी देती है। पाठक यहाँ 'अचिर' पर रुककर छायावादी मनोभूमि से अज्ञेय का लगाव ही नहीं, अलगाव भी पहचान सकता है।

इसी प्रेमानुभूति की उत्कटता में कवि के विद्रोह और उसकी आत्म-विसर्जन की आकांक्षा दोनों का स्रोत है। कवि की 'अनास्था' का भी और आस्था का भी। इसी में से उपजता है उसका कठोर आत्मानुशासन और उत्तरोत्तर विकसित होती 'करुणा'। कवि के कवित्व का स्रोत ही जैसे वही है : इसीलिए तो आत्मावसाद के क्षणों में वह उसी का आवाहन करता है :

> कवि, एक बार फिर गा दो
> आज त्यक्त हूँ, पर दिन था, जब सारा जग अँजुरी में लेकर
> ईश्वर-सा उसको था मैंने एक स्वप्न पर किया निछावर
> उस उदारता को ज्वाला-सा उर में पुनः जला दो
> तुम मुझको अनथक कृतित्व का भूला राग सुना दो
> कवि, एक बार फिर गा दो

कहना न होगा कि यह प्रेमानुभूति ही कवि के भावी 'अनथक कृतित्व' की प्रेरणा है।

एक साथ उड़ते पक्षी-युग्म का बिम्ब कवि को इतना प्रिय और अर्थवान् लगता है कि वह बार-बार आता है। "कीर दो, किन्तु एक था गान/झड़ गये थे आवरण ससीम/शक्तिमय इतना था आह्वान"···यह आह्वान एक निर्मम आस्था की चोट है, जो इह-बन्धन के, बन्दीगृह के द्वार खोल सकती है, मृत्यु और मुक्ति का इकट्ठा आस्वाद करा सकती है :

> यही है मिलन-मार्ग का सेतु, हृदय की यह स्मृति-प्यार-पुकार।
> इसी में रहकर भी विच्छिन्न, हमारा है अनन्त अभिसार॥

'प्रार्थना' में कवि ईश्वर का पार्थिव समकक्षी है। नर की आस्था नारायण से और भला क्या माँग सकती है : सिवा उसी अनासक्त रचना-शक्ति, उसी निर्मम दीप्ति के ? अभिव्यक्ति के सारे अटपटेपन के बावजूद बात बोलती है। क्यों न बोले।

> गुरु ! मैं तुझसे सीखूँ, पर अक्षुण्ण रखूँ अपना विश्वास।
> बुझकर नहीं, दीप्त रहकर ही मैं आ पाऊँ तेरे पास॥

इस कविता में कवि अपने ही हाथों से अपना स्मारक ध्वस्त कर सकने जितनी निर्ममता माँगता है जहाँ मिल्टन की उक्ति, 'उदार-चेताओं की एकमात्र अवशिष्ट लालसा : यशःकाय होने' (फेम इज़ द लास्ट इन्फार्मिलर्टी ऑव् नोबुल माइण्ड्स) वाली आड़ भी कवि को नहीं चाहिए। एक दूसरी अपेक्षाकृत रोमानी कविता में कवि 'इस अबाध में बस, बढ़ते ही जाने का बन्दी' होने की कामना प्रकट करता है। 'विधाता वाम होता है' में प्रेम की उस चिरन्तन विडम्बना का चित्रण है जहाँ विधाता प्रेम के मंदिर में विरह की विद्युन्मयी प्रतिमा स्थापित कर देता है। सृष्टि के ईसाई मिथक का उपयोग करते हुए, बल्कि उस पर एक तरह से प्रश्नचिह्न-सा लगाते हुए, कवि कहता है :

कौन पूछे उन अभागों को किया पथभ्रष्ट जिसने।
शत्रु जग के उस चिरन्तन साँप को किसने बनाया ?

वस्तुत: कविता का—और कवि का भी तत्त्व-प्रश्न यही है कि

बुद्धि ही इस मोह-तम में ज्योति अन्तिम है हमारी।
किन्तु क्या उसकी परिधि में नियति को हम बाँध पाते ?

संग्रह की एक और विशिष्ट-चारित्रिक कविता है : 'आज थका हिय हारिल मेरा।' शेली का 'स्काइलार्क' सूनी संध्या का सामना नहीं करता; किन्तु अज्ञेय का 'हारिल' सूने में खो जाने को भी तत्पर है। वह पौरुष का मदमाता अवश्य है। प्रिय की भी अनुकंपा उसे नहीं चाहिए। उसे चाहिए उसका समकक्षी, जो उसके साथ-साथ उड़ सके। एकमात्र आश्वासन जो वह चाह सकता है, यही कि :

जिस सूने मे मैं लुट चला, कहीं उसी में तुम भी होगे ?

सब कुछ सहनेवाला ईसा ही कवि का एकमात्र आदर्श नहीं। आदिमानव आदम और बुद्ध की गोपा का औदार्यभरा अन्तर भी उसके आदर्श हैं।

अज्ञेय की कविता जीवन की आलोचना भी है और जीवन की रहस्यानुभूति भी। तथाकथित शुद्ध कविता का दावा यहाँ आरम्भ से ही नहीं है : हाँ, सृजनात्मक शब्द की स्वायत्त गरिमा का आग्रह अवश्यमेव है। निरन्तर आत्मालोचन और आत्मशोधन की प्रक्रिया का साक्ष्य अज्ञेय की कविताओं में बराबर मिलेगा। कविता के सौन्दर्य की अपेक्षा यहाँ जीवन की अर्थवत्ता की खोज की तड़प अधिक है। रचना मानो उसके लिए अपने नैतिक, भाविक, बौद्धिक व्यक्तित्व की संश्लिष्टता को साधने का—उसी के मुहावरे में कहें तो—व्यक्तित्व की खोज का—साधन है। ऐसे कृती व्यक्तित्व की खोज का, जो फिर समष्टि को निःशेष अर्पित करने योग्य हो। कवि के रूप में प्रौढ़ होने का तात्पर्य है अपनी समग्र

मनुष्यता में परिपक्व होना (मैच्योरिंग एज़ ए पोएट मीन्स मैच्योरिंग एज़ ए होल मैन ।)

अज्ञेय का प्रयत्न यही रहा है। यहाँ भी उस प्रक्रिया को पहचाना जा सकता है और इस बात को भी, कि यह साधनावस्था अभी काफ़ी आगे तक चलेगी : सिद्धि अभी बहुत दूर है। आत्मज्ञान की एक सीढ़ी तो वह निश्चय ही पार कर चुका है। 'अन्तिम रहस्य' वह हो, न हो।

> मैंने विदग्ध हो जान लिया, अंतिम रहस्य पहचान लिया।
> मैंने आहुति बनकर देखा, यह प्रेम यज्ञ की ज्वाला है।।

निश्चय ही जिस अनुभूति को कवि ने 'अपने जीवन का रस दे देकर पाला है'—वही उसकी अजस्र प्रेरणा भी है।

'इत्यलम्' में एक नया यथार्थ बोध भी प्रकट हुआ है। यहाँ व्यंग्य-विपर्यय और आत्म-विद्रूप की मनःस्थितियाँ भी घुसपैठ करने लगी हैं। कवि 'अपने से बाहर' आकर देखता है :

> मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता
> मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला
> मैं वह छप्पर-तल का अहंलीन शिशु भिक्षुक
> मैं हूँ वे सब, ये सब मुझमें जीवित
> मेरे कारण अवगत, मेरे चेतन में अस्तित्व-प्राप्त···

यहीं से हिन्दी कविता में आधुनिक बोध और स्वचेतनता की पहल शुरू होती है। "कुहासे की मुट्ठी में सिहरते से पंगु, टुंडे, नग्न, बच्चे, दई मारे पेड़" टी. एस. एलियट के 'प्रूफ़ॉक' में घिरते 'येलो फॉग' (पीले कुहरे) की तरह नया संवेदनाघात देते हैं। शहरी बिम्बमाला और ख़ासी प्रतिकूलवेदनीय बिम्बमाला—अचानक छायावादी और छायावादोत्तर कवियों की प्राकृतिक और स्वप्नमयी संसृति पर आक्रमण कर देती है। भग्न गुम्बद, बाँस की टट्टी, फटी चिन्दियाँ, अपने ही मूत्र-वृत्त में खड़ा गदहा, बनबिलाव तथा गोयठों के गन्धमय अम्बार शिशिर की चाँदनी रात के सम्मोहन को ध्वस्त कर डालते हैं। कल्पना-जगत् से इस तरह एक बदसूरत, बदहवास दुनिया में खदेड़ा हुआ कवि पूर्व कवियों को ही नहीं, पहले की तमाम कवि-पीढ़ियों की पोल-पट्टी उधेड़ने को आमादा है। फिर भी, अभ्यस्त भाव-जगत् की स्मृतियाँ पीछा नहीं छोड़तीं। वही चेहरा उदास फिर से आता है। "चोट नहीं, वही मेरी जीवनानुभूति है···।" आधुनिक अनुभव और शहरी जीवन का कुहासा तो लिपटता ही है···किन्तु जहाँ रिश्ते-नाते, सामाजिक मान्यताएँ और आचरण सब संदिग्ध हो गये हैं, वहाँ वह 'उदास चेहरा' अभी भी कवि की मूल्य-

निष्ठा को, उसकी मानवीयता को टेक दिये हुए है। तभी तो वह कह उठता है :
"···तुम्हीं मेरा जीवन कुहासा भेद उगा हुआ तारा हो···।"

'मुक्त है आकाश' में एक नयी मनःस्थिति प्रगट होती है। पहली बार मानो कवि अपने कठोर आत्मानुशासन के ही ख़िलाफ़ अपने को खड़ा पाता है। अन्त-विरोध और भीतरी अनबन के चलते सृजनात्मक तनाव बढ़ता जाता है। अब कविता भी सूक्ति से आगे बढ़ती हुई बिम्ब-विशिष्ट होने लगती है। "अन्तरिक्ष की कौली भर मतियाया भूरा पानी, क्वाँरेपन की केंचुल में यौवन की गति उद्दाम प्रबल, दो पर्वत-श्रेणियों के बीच मानो स्फुट अधरों के बीच बिखरता धूप का कल-हास्य"···कवि की धड़क खुल जाने के, अभिव्यक्ति की नयी स्वतंत्र राह खुल जाने का संकेत देते हैं। 'ओ पिया पानी बरसा' की अद्‌भुत लयात्मक उत्तेजना इसी उन्मुक्तता में से उपजी है। 'जन्मदिवस' शीर्षक कविता में अज्ञेय-काव्य के जाने-पहचानने 'दाता' का अभिप्राय पहली बार प्रगट होता है। बिम्बों की लड़ी-सी गुँथ गयी है यहाँ···

> ओस-नमे फूल, गंध मिट्टी पर पहले अषाढ के अयाने वारि-बिन्दु की
> कोटरों से झाँकती गिलहरी
> स्तब्ध, लयबद्ध भौंरा टँका-सा अधर में
> चाँदनी से बसा हुआ कुहरा
> पीली धूप शारदीय प्रात की
> बाजरे के खेतों को फलाँगती डार हिरनों की बरसात में···

कवि इन सबके प्रति ऋण स्वीकारता है, विनत है। 'मैं मरूँगा सुखी'—वह कहता है—'मैंने जीवन की धज्जियाँ उड़ाई हैं।' अमुखर नारियों से आरम्भ होनेवाली जीवन की इस अनुभूत और चरितार्थ बिम्बमाला की यह परिणति पाठक को चौंका देती है। उसे अच्छा नहीं लगता इस तरह चौंककर। क्योंकि वह अभिभूत होने के लिए प्रस्तुत किया गया था, इस तरह कवि व्यक्तित्व के नितान्त अनावश्यक हस्तक्षेप से चौंकाये जाने के लिए नहीं।

शक्ति-संचय

क्रांति है आवर्त, होगी भूल उसको मानना धारा
उपप्लव निज में नहीं उद्दिष्ट हो सकता हमारा
जो नहीं उपयोज्य, वह गति शक्ति का उत्पात-भर है
स्वर्ग की हो—माँगती भागीरथी भी है किनारा।

'हरी घास पर क्षणभर' में संकलित यह कविता कवि के विकास-क्रम की अगली सीढ़ी को सूचित करती है। शक्ति का उपासक तो कवि अब भी है, किन्तु शक्ति के उत्पात का नहीं, उसके संचय और उपयोग का। यह दूसरा दौर दर-असल कवि के *शक्ति-संचय* का ही है। कवि मन के 'स्वयंभू आलोक' में उस 'बन्धु' को पहचान रहा है जो उसके हृदय में 'चिरन्तन जागता है'।

यहाँ आते-आते विषाद और आत्मावसाद की मनःस्थितियाँ भी आत्मज्ञान-साधक हो जाती हैं। इस अभिव्यक्ति में तीक्ष्णता है, सूक्ति सरीखी सघनता है और हाँ, बिम्ब-सजीव दीप्ति भी। 'पावस-प्रात', 'शिलङ' और 'दूर्वांचल' सरीखी गीतियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। शक्ति-संचय का आन्तरिक साक्ष्य इन कविताओं के मितकथन और सांकेतिक सूक्ष्मता में देखा जा सकता है। यहीं से अज्ञेय की असली काव्योपलब्धि का आरम्भ होता है। अभी तक जो केवल आत्माभिव्यक्ति थी—निश्चय ही अत्यन्त वेधक और भावपूर्ण—वह अब भाषिक सर्जना की ओर उन्मुख हो गयी है। अनुभव और भाषा के संघर्ष से एक नयी अर्थवत्ता की उपलब्धि है वह। आत्मोद्‌बोधन आत्मोपदेश और अपने ही भावों की व्याख्या की प्रवृत्ति जहाँ-तहाँ अब भी मौजूद है। किन्तु ऐसी कविताएँ संख्या में बढ़ती जाती हैं जो इस प्रक्रिया से उबरी हुई कविताएँ हैं।

प्रकृति-निरीक्षण की सूक्ष्मता भी बढ़ी है। ऐसे नये और भावाभिव्यंजक बिम्बों का वैशिष्ट्य देखना हो तो दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे :

पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गयी फलाँगती
सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमक कर झाँकती

(कतकी पूनो)

नभ में रवहीन दीन बगुलों की डार चली
(क्वार की बयार)

लय के, 'काउन्टर प्वाइण्ट' (एक धुन और लयगति में दूसरी धुन और लय-गति का समावेश) के भी कुछ सार्थक प्रयोग देखने को मिलते हैं जैसे 'अकेली न जैयो राधे' में। आरम्भ की उत्सुक-चंचल गति ('उस पार चलो ना कितना अच्छा है नरसल का झुरमुट') अन्त की ओर कैसा अप्रत्याशित, किन्तु सार्थक मोड़ ले लेती है।

साँस लम्बी, स्निग्ध होती है
मौन ही है गोद, जिसमें अनकही कुल व्यथा सोती है।

इसके साथ ही व्यंग्य-विद्रूप के जरिये अपनी भावाकुलता को सन्तुलित और संकेन्द्रित करने की सफल चेष्टा 'माहीवाल', 'सवेरे-सवेरे' और 'कवि हुआ क्या फिर' शीर्षक कविताओं में देखी जा सकती है। कवि अब एक रचनात्मक अर्थ में भी—'अपने से बाहर' आ रहा है। वह इस प्रक्रिया को पहचानकर उसका औचित्य भी स्थापित करता चलता है क्योंकि यह स्वयं कविता के इतिहास का नया मोड़ है। नयी काव्यभाषा की खोज सफल होने लगी है। इसलिए यह स्पष्टीकरण भी अटपटा नहीं लगता; ज़रूरी लगता है।

अपने से बाहर आने को छोड़ नहीं आवास दूसरा
भीतर भले स्वयं साँई बसते हों

ध्यान रहे कि यह वह कवि कह रहा है जिसने अभी-अभी 'मन के स्वयंभू आलोक' की आराधना का संकल्प उठाया था, अपने 'हृदय में चिरंतन जागनेवाले बन्धु' को पहचानने की बात की थी। किन्तु क्या उस संकल्प की पूर्ति के लिए भी पहले अपने से बाहर आना ज़रूरी नहीं है, 'हमारा देश' पहचानना ज़रूरी नही है? निश्चय ही नयी व्यंजना का सोता सभ्यता की चट्टानें तोड़कर बहेगा। ('आज तुम शब्द न दो न दो, कल भी मैं बहूँगा') किन्तु एक ज़रूरी आत्म-ज्ञान के बाद ही।

सुनो कवि, भावनाएँ नहीं हैं सोता, भावनाएँ खाद हैं केवल
तनिक उनको दबा रक्खो
अँधेरी तहों की पुट में पिघलने और पचने दो
रिसने और रचने दो
कि उनका सार बनकर चेतना की धरा को कुछ उर्वरा कर दे
भावनाएँ तभी फलती हैं कि उनसे लोक के कल्याण का अंकुर कहीं फूटे

आत्म-ज्ञान सदैव पीड़ादायक होता है। इस कविता में वह आत्म-विद्रूप की शक्ल अख़्तियार कर लेता है :

> कवि, हृदय को लग गई है ठेस ? धरा में हल चलेगा ?
> मगर, तुम तो गरेबाँ टोहकर देखो
> कि क्या वह लोक के कल्याण का भी बीज तुम में है ?

नगर-सभ्यता की विद्रूप-भरी आलोचना तो आधुनिक कविता की पहचान ही बनकर उभरी थी, एलियट इत्यादि के काव्य में। अज्ञेय में भी वह उभरती है। 'हरी घास पर क्षण भर' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है : एक नयी आत्मालोचनपूर्ण स्व-चेतना उसमें मानो पहली बार उभरती देखी जा सकती है। यहाँ आत्मोद्-बोधन भी एक समूची पीढ़ी के अनुभव-संकट और अर्थ-संकट को अभिव्यक्त कर देता प्रतीत होता है। यही इसकी सार्थकता है और यही तत्कालीन परिस्थिति में इसके विस्फोटक नयेपन का भी कारण था।

> ···याद कर सकें अनायास : और न मानें
> हम अतीत के शरणार्थी हैं।···
> स्मरण हमारा—जीवन के अनुभव का प्रत्यवलोकन
> हमें न हीन बना दे—प्रत्यभिमुख होने के पाप-बोध से···

कवि यहाँ आकर एक नया पाठ सीखता है : 'धैर्य पराजय में : यह भी गौरव है।' 'आत्मा और मैं' का यह संवाद आयरिश कवि येट्स की प्रसिद्ध कविता 'ए डायलॉग बिटवीन सेल्फ़ एण्ड सोल' की याद दिलाता है। हालाँकि दोनों के बीच सात समन्दर की दूरी है। न कथ्य की समानता है, न रूप की।

> अभी न हारो, अच्छी आत्मा
> मैं हूँ, तुम हो
> और अभी मेरी आस्था है।

अज्ञेय का कवि धीरे-धीरे 'बिम्ब' से प्रतीक की ओर बढ़ रहा है। 'हरी बिछली घास' और 'सूने गगन की पीठिका पर दोलती बाजरे की कलगी' प्यार के नये प्रतीक के रूप में प्रस्तावित हैं, तो इसलिए कि पुराने प्रतीकों के 'देवता कूच कर गये हैं'। 'देवताओं के कूच कर जाने' का बोध अभी उस तरह कवि के सिर पर चढ़कर नहीं बोलता जिस तरह वह रिल्के या ह्योल्डरलिन के काव्य में बोलता है। अभी कवि का बोध उस त्रासदी के स्तर को नहीं छूता : अभी वह व्यंग्य-विपर्यय से ही उसकी एक चुस्त परिक्रमा कर लेता प्रतीत हो रहा है। त्रासदीय बोध या त्रासजनित पावनता के स्तर के बोध तक पहुँचने के लिए अभी अज्ञेय को न जाने कितनी बीहड़ यात्राओं से गुज़रना था। मगर फ़िलहाल इतना भी कम नहीं है

और 'नदी के द्वीप' शीर्षक कविता इस दौर की उसकी सबसे मूल्यवान् उपलब्धि रही : उसकी सबसे सार्थक प्रतीक-सर्जना।

हम पहले ही देख चुके हैं कि तथाकथित स्वायत्त सौंदर्य की खोज अज्ञेय के कवि की अभीप्सा नहीं है। कर्म-प्रेरणा, अर्थवत्ता, जीवन की आलोचना उससे कभी छूटती नहीं। कोई चाहे तो इसी को उसके कवित्व की सीमा के रूप में भी देख और दिखा सकता है। किन्तु इस अर्थान्वेषी धीर-गंभीर कवि का संसार इकहरा नहीं है। उसमें पर्याप्त वैविध्य है : भावनाओं का विस्तृत वर्णपट। 'कांगड़े की छोरियाँ' जैसी कविताएँ उसके कवि-स्वभाव की उन्मुक्तता और लाघव को प्रदर्शित करती हैं। 'देश' की पहचान तो इस कवि की ख़ास अपनी पहचान है ही। सामान्यीकरण के आग्रह के ठीक विपरीत यह अनुभूति का 'सूक्ष्म वैशिष्ट्य' ('प्रिसाइज़ पर्टीकुलेरिटी') इस तरह हिन्दी कविता में कम ही देखने को मिलता है। अज्ञेय का प्रकृति-काव्य एक अलग ही विषय है जिसकी बारीकियों में जाने का यहाँ अवकाश नहीं; पर पन्त के बाद शायद ही किसी कवि का प्रकृति-संवेदन इतना प्रगाढ़, इतना भरा-पूरा, और फिर भी इतने जोखिम से निखरा हुआ हो, जितना अज्ञेय का। जहाँ तक उनकी प्रेमानुभूति का सम्बन्ध है, हम पहले भी देख चुके हैं कि अपने घोर रोमांटिक दिनों में भी उसमें प्रतिवादी स्वर बराबर मौजूद था। यह भी कि अज्ञेय-काव्य में यह प्रेमानुभूति आत्म-शंका की यन्त्रणादायी प्रश्नाकुलता के साथ-साथ एक उच्चतर नैतिक-संवेदन से भी जुड़ी है और यही बात उनके प्रकृति-संवेदन की तरह उनकी प्रेमानुभूति को भी तीखी और धारदार बनाती प्रतीत होती है। अतीत की विकल कल्पना अज्ञेय में प्रसाद से कम नहीं है; किन्तु प्रसाद की ही तरह उसके प्रति अज्ञेय की दृष्टि महज़ रोमांटिक भर नहीं है। छायावादियों के बीच प्रसाद का जो वैशिष्ट्य है, वही कहीं अज्ञेय के अनुभूति-सामर्थ्य को भी परिभाषित करता है। 'कभी तो अनुभूति उमड़ेगी प्लवन का सान्द्र घन भी बन'...यह आशा और इसका अनासक्त अर्थोन्मेषी आग्रह यदि अज्ञेय में है तो प्रसाद की परम्परा के मेल में ही है। अज्ञेय प्रसाद की तरह 'प्रेम' शब्द का प्रयोग नहीं करते; उनका प्रिय शब्द 'प्यार' है। 'प्यार' की यह प्रेरणा—सचेत स्तर पर भी—उनके काव्य-विकास के प्रत्येक दौर में प्रतिफलित होती देखी जा सकती है। 'अपने विषाद-विष से मूर्छित मन' को जगाने का जैसा उपक्रम प्रसाद की 'लहर' में मिलता है, वैसा ही उपक्रम अज्ञेय के 'बावरा अहेरी' में है : किन्तु प्रसाद से सर्वथा स्वतंत्र और स्वतःस्फूर्त। समानता जो है, स्वभाव की है, प्रक्रिया की है।

इन कविताओं के जरिये कवि अपनी भावाकुलता से उबरता गया है। उसका आत्म-विश्वास बढ़ता जाता है। इसी बूते वह कह सकता है कि—"आसक्ति नहीं, आनन्द है सम्पूर्ण व्यक्ति की अभिव्यक्ति : मरूँ मैं, किन्तु मुझे घोषित यह कर

जाने दो।"'''यह अदम्य-आत्म-विश्वास ही उसे अपने भाव-यंत्र को 'सूखी घास-फूस की मचिया' कहने जितनी पारदर्शी विनम्रता जुटाता है और मोह भंग के बीचोंबीच यह आश्वासन भी कि :

शब्द यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ है

कवि पाता है कि 'क्षण-क्षण जो मरता दिखता है', वही तो 'अविरल अन्त:-सत्व' है। वह अपनी स्वयं की मौलिक-प्रत्यक्ष जीवनानुभूति के भीतर से ही, उसी को निचोड़कर ही अपना जीवन-दर्शन प्राप्त करना चाहता है; किसी दूसरे के खोजे सत्य से नहीं। 'ना कुछ फेर नहीं आने का', या 'नहीं, फिर आना नहीं होगा'—अज्ञेय में सतही सुखवाद या चार्वाकीय तर्क का आधार कभी नहीं बन पाता। अज्ञेय की सबसे बड़ी विशेषता नकारों का सामना करते हुए उनसे जीवन के प्रति बुनियादी स्वीकार-भाव को उबार लाना है। यही उनकी आधुनिकता है, यही उनकी भारतीयता है। नश्वरता का स्वीकार उन्हें जीवन की अर्थवत्ता का विलक्षण स्वाद अनुभव कराता है, उनके शिवत्व-बोध पर धार चढ़ाता है, निरन्तर कर्म में जुटे रहने की ठोस प्रेरणा देता है और अन्ततः उस 'आनन्द', उस 'सामरस्य' को भी समझ सकने की अन्तर्दृष्टि देता है, जिसे प्रसाद ने पिछली पीढ़ी के जीवन-बोध के बीचोंबीच पकड़ा था।

ऊपर हमने इस कवि के क्रीड़ाभाव का उल्लेख किया था। 'काँगड़े की छोरियाँ' तक ही उसे सीमित समझ लेने की सुविधा पाठक को नहीं है। ऐसी अनेक कविताएँ मिलेंगी, जिनमें क्रीड़ा से ही गंभीर अर्थ की सृष्टि होती है। 'सत्य तो बहुत मिले' उदाहरण के लिए ऐसी एक कविता है और 'मरुकाका' दूसरी। परम्परागत दार्शनिक मुद्राओं का मखौल उड़ाते हुए किस खूबी से कवि ने अपनी बात उगाही है :

नव सर्जना में जो अपने को होम कर होते आनन्द-मग्न
उनकी तो दृष्टि और होती है।

शब्द को कवि 'नैवेद्य' की तरह ग्रहण करना चाहता है, कंकड़ या सीपियों की तरह नहीं।

एक बड़ी मार्मिक कविता 'मैं वहाँ हूँ' का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। इसमें कवि स्वयं को 'सेतु' की भूमिका में देखता है—वह सेतु, जो 'मानव से मानव का हाथ मिलने' से बनता है, जो हृदय को हृदय से, कल्पना से कल्पना को, विवेक से विवेक को मिलाता है। किन्तु 'इतिहास की हवा' में कवि अतिरिक्त रूप से व्याख्याकार हो गया है। वह सन्तुलन नहीं निभा पाता। सार्थक वक्तव्य की अपेक्षाकृत सफल कविता का उदाहरण—लगभग सूक्तिपरक उदाहरण है—'विपर्यय'। 'हमने पौधे से कहा' में सर्जक के प्रति समाज की झूठी वाहवाही की पोल उधेड़ी

गयी है। इसी तरह साहित्यिक दुनिया के मठाधीशों की भी 'नयी कविता : एक संभाव्य भूमिका' में जमके ख़बर ली गयी है।

'इन्द्रधनु रौंदे हुए' में 'सागर-तट की सीपियाँ' फिर एक नया सन्देह उभारती हैं। जिसके प्रत्युत्तर-स्वरूप 'कवि के प्रति कवि' और 'सर्जना के क्षण' शीर्षक कविताएँ कवि को उबार लेती हैं। 'हम कृती नहीं हैं' शीर्षक कविता में अपनी अवस्थिति का बड़ा पीड़क, किन्तु पारदर्शी बोध अभिव्यक्त हुआ है। उसी तरह, जिस तरह कि आधुनिक भाव-बोध का संकट 'प्याला:सतहें' में। 'हरा-भरा है देश' तथा 'शब्द और सत्य' शीर्षक कविताएँ इसी संकट में जूझने और कुछ अर्थ पा लेने की छटपटाहट को 'भीतर' और 'बाहर' के आयामों में व्यक्त करनेवाली कविताएँ हैं तो ब्राह्म-मुहूर्त : स्वस्तिवाचन स्वार्जित शिवत्व-बोध के जरिए उन्हें जोड़नेवाली।

कहानीकार अज्ञेय

'कोठरी की बात' के बहाने हम अज्ञेय के कथा-कृतित्व की सार्थकता का कुछ संकेत पहले ही पा चुके हैं। कहानीकार के रूप में अज्ञेय ने बहुत जल्दी अपनी पहचान बना ली थी। जब वे जेल में थे तभी उनकी कहानियाँ जैनेन्द्र जी के माध्यम से प्रेमचन्द तक पहुँची थीं और चूँकि नाम दिया जा सकना सम्भव नहीं था, इसलिए जैनेन्द्र कुमार जी के यह कहने पर कि लेखक तो अज्ञेय ही रहना है, उनकी कहानी इसी नाम से प्रेमचन्द को छापनी पड़ी थी। इस तरह स. ही. वात्स्यायन का 'अज्ञेय' नाम (या उपनाम) उनके कहानीकार के निमित्त से ही पड़ा।

उनकी प्रारंभिक कहानियाँ क्रांति और भावनात्मक आदर्शवाद की विषयवस्तु के इर्द-गिर्द रची गयीं। 'विपथगा' (1937) और 'कोठरी की बात' (1945) की कहानियों को यदि हम आज पढ़ें तो वे कुछ बासी पड़ गयी जान पड़ती हैं। किन्तु उनमें जो व्यक्ति का नैतिक अन्तर्द्वन्द्व है, जो प्रश्नाकुलता है, वह आज भी विचारोत्तेजक और अप्रासंगिक नहीं हो गया है, यह हाल में उनमें से कुछ के नाट्य-रूपान्तर देखने पर अनुभव हुआ। नाट्य-सजीव होने पर वे ही स्थितियाँ, वही कथोपकथन जो पुस्तक के पृष्ठों पर अतिरिक्त भावुकता से प्रेरित लगते थे, अब अचानक नये सिरे से मन-मानस को पकड़ने लगे। शायद इसीलिए कि उनके पीछे मात्र कल्पना नहीं, वास्तविक रूप से भोगी गयी मन:स्थितियों का और सचमुच के वैचारिक अन्तर्द्वन्द्व का बल था। मज़े की बात यह है कि क्रान्तिकारी भावुकता और क्रान्तिकारी बौद्धिकता के इन चित्रों में बहुत सारे तो विदेशी हैं : रूसी, चीनी और दक्षिण अमेरिकी। इन संकलनों के अलावा 'परम्परा' (1944) में कुछ दूसरे क़िस्म की कहानियाँ भी हैं, जिनकी उन दिनों ख़ासी धूम रही और जो आज भी अच्छी लगती हैं।

सन् 1951 में 'जयदोल' नामक कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसमें सैनिक जीवन के अनुभवों पर आधारित रचनाएँ थीं। इससे पूर्व देश-विभाजन की त्रासदी से उत्पन्न शरणार्थी-समस्या को लेकर भी कुछ बड़ी मार्मिक कहानियाँ अज्ञेय ने लिखी थीं जो 'शरणार्थी' (1948) में संगृहीत हैं। 'ये तेरे प्रतिरूप' (1961) में आधी कहानियाँ तो पुरानी ही हैं, आधी अलबत्ता नयी है। 'मेरी प्रिय कहानियाँ'

शीर्षक से पाठक समाज में सबसे अधिक लोकप्रिय कहानियों का संकलन भी स्वयं अज्ञेय की भूमिका के साथ प्रकाशित है। इसमें ज्यादातर अच्छी कहानियाँ आ गयी हैं किन्तु इसमें 'कड़ियाँ', 'मेजर चौधरी की वापसी' या 'कोठरी की बात' जैसी कहानियों का न होना खटकता है। वैसे अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ अब दो जिल्दों में उपलब्ध हैं।

कहानी-कला के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में 'रोज़', 'शरणार्थी', 'कोठरी की बात', 'हीलीबोन की बत्तखें', 'खितीन बाबू', 'नम्बर दस', 'जयदोल' और 'वे दूसरे' काफ़ी चर्चित रही हैं। किन्तु एक कथाकार के रूप में भी अज्ञेय नैतिक प्रश्नों से बराबर घिरे रहे हैं। उनकी गहन प्रश्नाकुलता की समाई इस विधा में कई बार नहीं भी होती : ऐसी कहानियाँ कहानी-कला की कसौटी पर पूरी तरह खरी न उतरते हुए भी हमें विचलित तो कर ही जाती हैं। स्थूल यथार्थवाद का आरोप तो लेखक पर नहीं लगाया जा सकता; हाँ, अमूर्तता, रहस्यात्मकता तथा अतिरिक्त बौद्धिकता कहीं-कहीं उनकी कहानी के रूपाकार को गड़बड़ा देती हैं।

यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि अज्ञेय का शिवत्व-बोध उनके सौन्दर्य-बोध से कम प्रभावी नहीं है : उचित उपदेश का मर्म उनकी कविताओं में तक गाहे-बगाहे झलक मारता रहता है। कहानियों में यह और भी अधिक आग्रह के साथ प्रकट हुआ है। मसलन, 'शरणार्थी' संकलन की भूमिका में ही वे स्पष्ट कहते हैं कि "इन रचनाओं का कुछ भी शुभ प्रभाव आज की दूषित सामाजिक मन:स्थिति पर पड़े तो मैं इन्हें सफल मानूँगा।" यहाँ बात सिर्फ़ एक ख़ास संकलन तक ही सीमित नहीं है : अज्ञेय विशुद्ध कलावादी कभी नहीं रहे। उनकी रचना सोद्देश्य ही रही है गहरे में : किन्तु रचनाकार-व्यक्तित्व के स्वाधीन कर्तृत्व-बोध से ही प्रेरित उनके स्वातंत्र्य-दर्शन और उनके सामाजिक दायित्व-बोध के बीच कोई फाँक नहीं, बल्कि एक गहरा सम्बन्ध है जिसे किसी कोरे आर्थिक-राजनीतिक मतवाद में घटाया नहीं जा सकता। उनकी खोज एक समग्र जीवन-दर्शन की है और इसीलिए अपने रचना-दर्शन में भी कोई बन्धन या दबाव वे स्वीकार नहीं कर सकते। इतना ज़रूर है कि अन्ततः उनकी यह गम्भीर जीवन-दृष्टि अपने रूपायन के लिए कहानी विधा की प्रकृति के साथ समंजस नहीं हो पाती। कहानी ही क्यों, नाटक की चुस्ती और क्षिप्रगति भी उनके चिन्तनशील स्वभाव को शायद इसीलिए रास नहीं आयी। उनका एकमात्र नाटक 'उत्तर प्रियदर्शी' रंगकर्मियों को अधिक आकृष्ट नहीं कर पाया, हालाँकि वह निश्चय ही एक गम्भीर और भावोद्वेलनकारी रचना है। अपने ही द्वारा रचे हुए नरक का साक्षात्कार किस तरह अशोक को उत्तर-प्रियदर्शी बनाता है, इसका नाट्य-प्रस्तुतीकरण दर्शक के लिए विरेचनकारी हो सकना चाहिए : कम-से-कम अपने मानसिक रंगमंच पर तो अवश्य ही।

अज्ञेय का कवि होना उनकी कहानियों के लिए वरदान ही सिद्ध हुआ है। उनकी सबसे मार्मिक कहानियाँ वही हैं जिनमें उनकी कवि-दृष्टि प्रतिफलित हुई है। आरम्भिक कहानियों को छोड़ दें तो उनका कवित्व उन्हें मितकथन और संकेन्द्रण की ओर ही ले जाता है, भावुकता की ओर नहीं। निश्चय ही उनकी कहानियों के आन्तरिक संसार में कुछ टिकाऊ तत्त्व हैं जो बाहरी रूप-रंग, भाषा-शब्दावली आदि के पुराने पड़ जाने के बावजूद आज भी पाठक के मन को आन्दोलित कर सकने में सक्षम है। जो उनमें निहित कवि-दृष्टि की ही महिमा है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सच है कि कवि-दृष्टि की भी अपनी सीमा होती है। यदि वह विस्तार और गहराई के आयाम में काम करना चाहती है तो कहानी की विधा छोटी पड़ जाती है। यदि वह जीवन के तुमुल कोलाहल कलह में विविक्त परिष्कार की ओर प्रवृत्त होती है तो नाटक नहीं रच सकती।

'ये तेरे प्रतिरूप' के बाद अज्ञेय का कोई कहानी-संग्रह नहीं निकला। कहानी उनसे छूट ही गयी। क्यों छूट गयी, इस प्रश्न का उत्तर स्वयं लेखक के शब्दों में ही पाना उचित होगा। 'मेरी प्रिय कहानियाँ' की भूमिका में वे लिखते हैं कि "मेरे लिए रचना-कर्म हमेशा अर्थवत्ता की खोज से जुड़ा रहा है और यही खोज मुझे कहानी से दूर ले गयी है क्योंकि कहानी को मैंने उसके लिए नाकाफ़ी पाया।"

नदी के द्वीप

'नदी के द्वीप' चार अलग-अलग व्यक्तित्वों तथा उनके अन्तरसम्बन्धों को बड़ी बारीकी और सहानुभूति के साथ उद्घाटित करनेवाला उपन्यास है। नदी यहाँ जीवन की नदी है—बल्कि नदी न कहकर उसे भवसागर कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह भवसागर न केवल इन जिन्दगियों के आपसी रिश्तों के तनावों-उलझावों को अपने में समोये हुए है, बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध की परिस्थिति भी कहीं पार्श्व-संगीत की तरह इसमें विद्यमान है। यूरोप में यह समय घोर अराजकता और संक्रमण का समय है और भारत में भी कम उथल-पुथल नहीं मची है। 'नदी के द्वीप' वैसे एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी प्रेम-कथा है और यह रूपक इस प्रेम-कथा का आदि भी है, अन्त भी। लखनऊ के कॉफ़ी हाउस में रेखा, भुवन और चन्द्रमाधव के बीच चल रहे एक वार्तालाप से इस कहानी का पर्दा उठता है और वह बातचीत ही परस्पर विरोधी मूल्यों की टकराहट के इस समूचे सन्दर्भ को झंकृत कर देती है। उपन्यास में रूपायित समाज उस तरह कोई गहरी जड़ोंवाला संघटित-सुव्यवस्थित पारम्परिक (ऑर्गेनिक) समाज नहीं कहा जा सकता। मुख्य चरित्र भी इसके लगातार यहाँ से वहाँ भटकते रहते हैं। इस समाज-संस्कार के अभाव की पूर्ति प्रतीकों की उस संरचना से की गयी है जिस पर उपन्यास आधारित है। न केवल यह मूल रूपक अजैविक है बल्कि ज़्यादातर दूसरे रूपक भी—जैसे फ़व्वारा, तारे, रेगिस्तान—नखलिस्तान, रेलें, सड़कें आदि। जैसे ही कोई जैविक रूपक उभरता है, वह तुरन्त संकट से घिर जाता है। जैसे, शरद में सेब का बगीचा फल की परि-पक्वता का आश्वासन नहीं देता : हम केवल पके फल के रात में टूटकर गिरने की त्रासदायी आवाज़ सुनते हैं। कुछ भी जैसे यहाँ पूरा-समूचा नहीं है; सभी कुछ खण्डित है। रेखा और भुवन के बीच बातचीत भी शुरू की टुकड़ों में ही चलती है। रेखा भुवन से कहती है : "हम अधिक-से-अधिक इस प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी; भूमि से बँधे और स्थिर भी, पर प्रवाह में सदा असहाय भी···।"

और कथा के अन्त में, भुवन कहता है : "वह रूपक मेरा नहीं है, पर बार-बार मुझे याद आता है और मैं पाता हूँ कि उसमें नया अभिप्राय है : हम सब नदी

के द्वीप हैं, द्वीप से द्वीप तक सेतु हैं। सेतु दोनों ओर से रौंदा जाता है फिर भी वह दोनों को मिलाता है, एक करता है···।" भुवन यह रेखा से नहीं, गौरा से कह रहा है। उपन्यास का न्यास बड़ा रोचक और 'शेखर' से भिन्न है। वहाँ एक चेतना-प्रवाह था—केवल शेखर का। यहाँ चेतना-प्रवाह के चार स्तर हैं; प्रत्येक को दो-दो अध्याय दिये गये हैं। पहले भुवन, चन्द्रमाधव और गौरा क्रमशः 'फोकस' में आते हैं। फिर एक अन्तराल, जिसमें तीनों के बीच पत्राचार चलता है। भुवन कॉस्मिक रश्मियों की तलाश में कश्मीर जा रहा है; रेखा चन्द्रमाधव से विकर्षित होती है और रेखा तथा भुवन के बीच निकटता बढ़ती है। इस अन्तराल के बाद घटना-चक्र तेज़ी से घूमता है। रेखा 'फोकस' में आती है और भुवन के साथ उसका सम्बन्ध प्रगाढ़ होता है। अगला अध्याय भुवन के नाम है और इसमें भी भुवन और रेखा के अन्तरंग क्षणों का ही चित्रण चरम निष्पत्ति तक पहुँचता है। अगला अध्याय फिर चन्द्रमाधव पर केन्द्रित होता है और उसके कुण्ठित व्यक्तित्व का विद्रूप भरा उद्घाटन करके समाप्त हो जाता है। अब फिर से रेखा दृश्य के केन्द्र में आती है। उसके बाद एक दूसरा अन्तराल। और तब फिर गौरा।

रेखा और भुवन के सम्बन्धों पर एक छाया शुरू से ही पड़ गयी है। काफ़ी पहले ही रेखा भुवन में एक झिझक, एक संकोच को लक्ष्य करती है जिसके स्रोत तक वह नहीं पहुँच सकती। पहलगाम में प्रेमानुभूति की तन्मयता भी रेखा को पूरी तरह नहीं भुला सकती और वह कहती भी है भुवन से कि क्यों कुछ भी उस तक नहीं पहुँचता—स्वयं भुवन भी? रेखा की आशंका अकारण नहीं। संकट के चरमबिन्दु पर जब शेखर उससे विवाह का प्रस्ताव करता है, वह उसे क्यों अस्वीकार करती है? कहने को वह कहती ज़रूर है कि उसने भुवन से उसका प्यार माँगा था, उसका भविष्य नहीं। पर यह उत्तर पाठक को आश्वस्त नहीं करता। हाँ, दूसरी बात जो वह कहती है, वही असली बात जान पड़ती है:··· "तुम कुछ भी कहो मैं नहीं भूल सकती कि जो हुआ है वह न हुआ होता तो तुम न माँगते—न कहते; इसलिए तुम्हारा कहना परिणाम है। और यह कहना (यानी भुवन का विवाह-प्रस्ताव) परिणाम नहीं, कारण होना चाहिए, तभी मान्य हो सकता है।" इतना ही नहीं, रेखा उसके प्रस्ताव की गहरी विसंगति दिखाकर भी उसे अवाक् कर देती है···"भुवन, तुम समाज की दृष्टि से देखते हो··· व्यक्ति को दबाकर इस मामले का जो भी निर्णय होगा, ग़लत होगा, घृणित होगा, असह्य होगा।"

देखा जाय तो, यही दोनों चरित्रों के बीच का अन्तर है। रेखा की आहत और खण्डित आत्मा पूर्ण होने के लिए, अपना सच्चा स्वरूप पाने के लिए भुवन के प्रेम की ऊष्मा माँगती है। किन्तु स्पष्ट ही उस पूर्णता को रेखा को लौटाना भुवन के बस की बात नहीं है। भुवन—एक ख़ास क़िस्म का, अपेक्षाकृत ज़िम्मेदार बुद्धि-

जीवी होकर भी—इस भूमिका का निर्वाह करने में अक्षम है। यह बुद्धिजीवी एक विकलांग समाज को उसकी सम्पूर्णता नहीं लौटा सकता। ठीक है कि वह विज्ञान, कविता और नैतिकता की त्रिमूर्ति का उपासक है; ठीक है कि वह सब कुछ को एक नारे तक घटा देनेवाला भोथरा चन्द्रमाधव नहीं है; किन्तु उसके व्यक्तित्व को धार देनेवाला उसका वैज्ञानिक मानववाद भी तो पर्याप्त नहीं; वह भी तो उसे अपने चारों ओर के जनजीवन से एकात्म नहीं कर सकता। यह केवल संयोग भर नहीं है कि हम उसमें रेखा के विचारों को प्रतिध्वनित होते देखते हैं। भुवन ने रेखा से जिन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की थी, वही शब्द गौरा रेखा को भेंट करती है; यह भी क्या विडम्बना नहीं? रेखा को प्रारम्भ से ही भुवन के जीवन में किसी और स्त्री के होने का पूर्वाभास था, ऐसा लगता है। वह कहती भी है एक जगह भुवन से—कि "तुम मुझसे नहीं, किसी और से भाग रहे हो, जिसके साथ तुम्हारी नियति जुड़ी है।" कौन है यह स्त्री? उपन्यास में जो सबसे चमकदार बातें हैं उनमें से कुछ इसी स्त्री के द्वारा कहलवायी गयी हैं। किन्तु गौरा इस सबके बावजूद हमारी कल्पना में वैसा ठोस व्यक्तित्व लेकर खड़ी नहीं हो पाती जैसा रेखा को मिला है। वह रेखा से काफ़ी हल्की जान पड़ती है। भुवन का रवैया गौरा के प्रति गुरु जैसा है। किन्तु रेखा के प्रति भी उसका रुख, हमें याद आता है शुरू में 'बौद्धिक कुतूहल' का ही था। पाठक चक्कर में पड़ सकता है कि यदि गौरा भुवन की 'नियति' है, तो यह नियति दोनों के सम्बन्ध की ठोस औपन्यासिक जीवन्तता के रूप में चरितार्थ क्यों नहीं होती? यह प्रेम है कि कृतज्ञ-भाव? एकाएक भुवन जिस तरह गौरा को 'विराट्' को प्रतीकित करने का श्रेय दे देता है, वह यथार्थ नहीं लगता। भुवन रेखा के प्रेम की अग्नि को सहने में असमर्थ है क्या इसीलिए गौरा द्वारा तैयार की गयी 'सुगन्धित आग' उसे सुहाती है? कुछ है ज़रूर भुवन के व्यक्तित्व में, जिससे पाठक आश्वस्त अनुभव नहीं करता। शायद वही बौद्धिक कुतूहलवाला पक्ष, जो अपने-आपका और उस तरह जीवन का भी यथावत् सामना नहीं कर सकता।

वैसे भी, कदाचित् ही कोई दो स्त्रियाँ परस्पर इतनी भिन्न होंगी जितनी रेखा और गौरा। और फिर भी ये—पता नहीं कैसे—एक-दूसरे को गहराई में समझ लेती हैं। यदि हम उपन्यास के प्रतीकवादी अभिप्राय को अनदेखा करना चाहें तो यथार्थवादी धरातल पर इन दोनों की पारस्परिक सहानुभूति विश्वसनीय नहीं लगेगी। जब रेखा भुवन को सूचित करती है कि वह डॉ. रमेशचन्द्र से विवाह करने जा रही है, तब एकाएक इस सूचना पर भुवन की प्रतिक्रिया का हमें पता नहीं चलता। रेखा उसे लिखती है कि "मैं कल्पना में तुम दोनों को पास लाना चाहती हूँ। बिना इस विश्वास के मैं तुम दोनों को छल रही होती।" यह पढ़ते हुए पाठक को याद आती है एक पहले की घटना। रेखा का एक ऐसे शिशु को जन्म देने का स्वप्न देखना, जो एक साथ सर्जन और वायलिन-वादक होगा। व्यंग्य देखिए

कि रेखा एक 'सर्जन' से शादी करती है और भुवन संगीतज्ञ गौरा से। क्या इसी को 'पोएटिक जस्टिस' कहते हैं ? इस पर से हमें भुवन का वह सिद्धांत याद आता है कि "विज्ञान मूलतः दर्शन भी है और टेक्नोलॉजी भी। सभ्यता की जरूरत है कि दर्शन-पक्ष की रक्षा करे और दूसरे पक्ष को पूरी तरह अपने नियन्त्रण में रखे।" तो क्या न्याय की माँग यही थी कि रेखा, जिसकी सार्थकता भविष्य के वैज्ञानिक-कलाकार को जन्म देने में ही निहित थी, वह विज्ञान के दार्शनिक भुवन का प्रस्ताव ठुकराकर विज्ञान के टेक्नोलॉजी पक्ष के प्रतिनिधि डॉक्टर रमेश चन्द्र का वरण करे ? किन्तु रेखा के दृष्टिकोण से तो "भविष्य जैसी कोई चीज़ होती नहीं; केवल एक निरन्तर खुलता हुआ वर्तमान होता है।" क्या गौरा भुवन के लिए सबसे पारम्परिक कला संगीत और इसलिए स्वयं परम्परा का ही साकार-प्रतीक है ? क्या रचना-शक्ति के लिए तीव्र आवेगों और स्वचेतन व्यक्तित्ववाली रेखा की अपेक्षा यह अपेक्षाकृत 'पैसिव' गौरा ही अधिक उपयुक्त प्रेरणा है ?

आदर्श शिशु का तो जन्म ही नहीं हो सका। उस पर तो हेमेंद्र जैसे कुत्सित और बर्बर लोगों की, और चन्द्रमाधव सरीखे छिछले नारेबाज़ों की अशुभ परछाइयाँ आरम्भ से ही मँडरा रही थीं। स्वयं उसके जन्मदाता भुवन का बुद्धिवाद भी उसके आविर्भाव की राह में बाधक ही जैसा लगता है। निश्चय ही गर्भपात की घटना ने भुवन के मन में गहरा घाव कर दिया है। अपराध-बोध ने सम्भवतः उसे अपनी स्वतन्त्रता की और अपने बुद्धिवाद की भी सीमाओं का अहसास करा दिया है। अभी तक वह गौरा के संरक्षक-अभिभावक की भूमिका निभाता रहा था। अब दोनों ने जैसे आपस में अपनी भूमिकाएँ बदल ली हैं। अब गौरा भुवन की संरक्षिका बन गयी है और भुवन उसका 'बेबी'। यह रिश्ता उपन्यासकार की दृष्टि से दोनों को समृद्ध करनेवाला है। गौरा और रेखा के बीच भी उपन्यास में आदर्श-मैत्री स्थापित हो जाती है। रहा चन्द्रमाधव, तो उसकी हैसियत तो इस उपन्यास में एक जरूरी बुराई जैसी है क्योंकि वही तो परोक्षतः इन तीनों ऊर्जाओं को पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया में पास लाने का निमित्त या माध्यम बना था।

इस प्रकार इस उपन्यास की संरचना प्रतीकात्मक है। भाषा भी तदनुसार संकेतगर्भ और प्रतीक-समृद्ध। समूचे उपन्यास में सत्य, प्रेम, दुःख, तटस्थता, पक्ष-धरता, कला, विज्ञान, युद्ध, नैतिकता इत्यादि को लेकर ढेर सारे चिन्तन-सूत्र बिखरे पड़े हैं और उन्हें कथा-प्रवाह में खासे कौशल के साथ गूँथा गया है। उपन्यास का जो बुनियादी विरोधाभासी सत्य है और उसका आधारभूत रूपक है, 'नदी के द्वीप' का, उसे प्लॉट, चरित्र, टिप्पणी तथा प्रतीकवादी बिम्बमाला के जरिए उत्तरोत्तर खोला और चरितार्थ किया गया है। वृत्तान्त के ये एक-के-भीतर-एक वृत्त एक केन्द्रीय साक्षी-चेतना के द्वारा नियमित और नियन्त्रित किये गये हैं जो कि स्वभावतः स्वयं लेखक की चेतना होनी चाहिए। 'सत्य'—जैसा कि भुवन

उपन्यास के आरम्भ में ही कहता है "तथ्य का सर्जनात्मक पक्ष है ।"

पाठक-आलोचक के लिए यह कथा स्वयं भुवन को समेटते हुए एक तथ्य बन जाती है और इस तथ्य की सचाई को वह भुवन के अपने तरीक़े से ही ग्रहण कर सकता है। भुवन अभी पूर्ण सहजता और स्पष्टता की स्थिति तक नहीं पहुँचा है । वह अभी भी अपने-आपसे बहुत बात करता है, बहुत उधेड़-बुन करता है। किन्तु—कम-से-कम—बौद्धिक स्तर पर उसमें परिपक्वता के लक्षण प्रगट होने लगे हैं । उसका भाविक व्यक्तित्व गौरा के साथ से पुष्ट होना है। प्रश्न उठता है कि क्या गौरा का चरित्र वास्तव में इतना ठोस है ? इस प्रश्न के सन्तोषजनक उत्तर पर ही भुवन और डॉ. रमेशचन्द्र की विशिष्टताओं का वह सार्थक सम्पुंजन निर्भर है जो रेखा को इतना वांछनीय लगता है। उपन्यास के उपसंहार में एक अधिक पारदर्शी भुवन प्रकट होता है—बर्मा फ्रण्ट से चिट्ठियाँ लिखता हुआ, और उसकी आवाज़ सुदूर-सी लगती हुई भी मन में विश्वास जगाती है : भुवन पूछता है—"मैं था, मैं हूँ; किन्तु क्या ये दोनों अस्तित्व एक ही हैं ? लेकिन मैं इसका उत्तर नहीं जानता ।" इसका उत्तर उस निर्वैयक्तिक विराट्ता की अनुभूति में ही निहित है जिसमें उसे गौरा की उपस्थिति रची हुई अनुभव हुई थी। इसलिए अन्त में जब भुवन गौरा से कहता है कि "गहरी अनुभूतियाँ संचयधर्मी होती हैं, उनके आन्तरिक दबाव का संचय इतिहासों को बदल देता है···" तो हमें उसकी आवाज़ भरोसे की लगने लगती है। इतना ही है कि उपन्यास के पूर्वार्द्ध की उथल-पुथल जितनी जीवन्त और उत्कट है, उत्तरार्ध का यह मेल-जोल और पुनर्वास करनेवाली समझदारी चरित्रों के जीवन्त घात-प्रतिघात में से विकसित न होकर उनकी चिन्तनशीलता का ही प्रतिफलन लगती है और इस नाते पाठक के लिए उतनी यथार्थ नहीं बन पाती। खण्डित चरित्रों और उनके जीवनों की पूर्णता की सम्भावना विचार के स्तर पर एक सुदूर सम्भावना के रूप में ही झलकती हैं : उनकी खण्डितता और अपूर्णता की त्रासदी ही अनुभव के स्तर पर अधिक उजागर हुई है।

यात्रावृत्त : निबन्ध : अन्त:प्रक्रियाएँ

"नहीं यायावर, यादों के साथ मत रुको। अभी उनका और संचय करना है। पात्र भरे तभी उँडेलना, अभी भरने दो।"

'अरे यायावर रहेगा याद' (1953) के पहले ही अध्याय 'परशुराम से तूरखम' से लिये गये ये वाक्य अज्ञेय के यात्रा-वृत्तों के पीछे निहित अन्त:प्रक्रिया का स्वयं पर्याप्त निदर्शन हैं। पुस्तक के आरम्भ में ही वह छोटी-सी कविता टाँक दी गयी है जिसकी अन्तिम पंक्ति के आधार पर पुस्तक का नामकरण हुआ है।

अज्ञेय के व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों को पारिभाषित करनेवाला सबसे बड़ा गुण है धैर्य। यह अकारण नहीं कि यह शब्द उनके यहाँ कई सन्दर्भों में, हर बार एक विलक्षण अर्थगौरव लेकर आता है: धीरज का घासफूल···जलपंछी भर धीरज से लगे मूक मँडराने···प्रियतम धीर समुद सब सहनेवाला···। काव्य-सर्जना में तो उनका आदर्श वह प्रक्रिया है ही, जहाँ "एक मुक्ता-रूप को व्यथा के तम में पकते बरस-पर-बरस बीत जाते हैं", किन्तु गद्य-लेखन में, और गद्य-लेखन के भी सबसे सहज रूप यात्रा-वृत्तान्त में भी उन्हें कभी कोई उतावली नहीं रही। वे दृश्यों, चरित्रों, घटनाओं के, रूप-रस-गंध के विविध संस्कार ग्रहण करते जाते हैं, अभिभूत करनेवाली चीज़ों से अभिभूत होते हैं और उन्हें तत्काल शब्दबद्ध कर देने की बजाए चेतना में अंकित होने देते हैं, थिराने देते है—उस क्षण की प्रतीक्षा में, जब "उनका सार बनकर चेतना की धरा को कुछ उर्वरा कर जाए।"

जिसे अज्ञेय के कवित्व से या चिन्तक-रूप से कोई परिचय या लगाव नहीं है, वैसा पाठक भी इन यात्राओं का आनन्द ले सकता है क्योंकि महज़ घटित के स्तर पर भी इन अध्यायों की रोचकता कम नहीं है। किन्तु जिन्हें वृत्तकार के कवि-चिन्तक रूप का सह-संवेदन सुलभ है, उनके लिए तो ये पुस्तकें विशेष आस्वाद्य होंगी। कारण, अज्ञेय की संवेदनशीलता और निरीक्षणशीलता, भाव-ऊर्जा और बुद्धि-ऊर्जा परस्पर इतनी घनिष्ठ है और ज्ञान के संवेदन में, संवेदन के ज्ञान में ढलने की क्रिया इतनी आत्मीय और सहज-संवेद्य है कि पाठक अपने को लेखक की जगह अनायास ही अनुभव करने लगता है। उसे पता भी नहीं चलता कि वह लेखक के अनुभवों से किस क़दर स्वयं शिक्षित होता चल रहा है। एक आनन्द की

स्वतःस्फूर्त प्रेरणा उससे लेखक के साथ-साथ उस सब कुछ का साझा करवाती चलती है जो लेखक ने पाया है। वह लेखक के प्रकृति संवेदन में तो डूबता ही है (देखिए 'माझुली' का आरम्भ), मानव-चरित्र की अपूर्वानुभेय गतिविधियों से भी वह उसी की तरह चकित-अभिभूत होता है। 'किरणों की खोज में' जो दुर्घटना घटती है, उसके सामने गुरु के आत्म-संयम का वह प्रसंग क्या कभी भुलाया जा सकता है ?

"किन्तु बोलना व्यर्थ था। कर्म बहुत से आघात सहने का एकमात्र उपाय होता है—फिर कर्म वह कितना ही असंगत क्यों न हो···"

ऐसी स्मरणीय सूक्तियाँ इस यात्रावृत्त में जहाँ-तहाँ हर जगह बिखरी पड़ी है। किन्तु प्रसंग की स्मरणीयता इस सूक्ति की मोहताज नहीं। समूचा वर्णन और वर्णन का संवरण ही पाठक के सिर पर चढ़कर बोलता है। खोये हुए विद्युत्-दर्शक को लेकर ठट्ठा करने का माद्दा अगर गुरु में है तो शिष्य भी कम नहीं है। वह भी अपने अन्तःस्मित, अन्तःसंयत परिहास की छटा यत्र-तत्र बिखराता चलता है।

अज्ञेय का यायावर यात्रा-स्थलों की भरपूर जानकारी ही नहीं देता, उनसे जुड़े मानव के इतिहास और सांस्कृतिक चरित्र पर भी उसकी आँख बराबर रहती है। यायावरी उसके सुदीर्घ आत्म-शिक्षण और आत्म-निर्माण का ही अंग है और वह जब भी किसी दृश्य पर, घटना या उससे जुड़े ऐतिहासिक-सांस्कृतिक तथ्य पर टिप्पणी करता है, वह टिप्पणी महज़ एक सैलानी की तटस्थ टिप्पणी नहीं होती : कवि-कथाकार और संस्कृति-चिंतक का संश्लिष्ट व्यक्तित्व उस टिप्पणी में बोलता है। एलोरा की गुफाएँ देख चुकने के बाद वह धुँधलके में चट्टान की हर आकस्मिक दरार में भी छेनी की सोद्देश्य कोर देखने लगता है···कल्पना प्रसूत मूर्तियाँ उसके मानस पर छा जाती हैं···उससे बातें करने लगती है। वह सहसा देश-काल के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इस यात्रावृत्त का समापन औरंगज़ेब की छाया से 'यायावर' के लिए संवाद से होता है, वह कितना मार्मिक है, यह उसे पूरा पढ़कर ही जाना जा सकता है।

'अरे यायावर रहेगा याद' में लेखक के भारतीय यात्रानुभवों का मार्मिक आलेखन है तो 'एक बूँद सहसा उछली', उसके विश्व-भ्रमण का उतना ही संवेदन-समृद्ध, उतना ही विचारोत्तेजक दस्तावेज़। इसका नामकरण भी अज्ञेय की ही एक कविता के आधार पर हुआ है। इसके आरम्भ में भी वह कविता समूची उद्धृत है और जिस तरह वह कविता उस सारी यायावरी की मनःस्थितियों और चित्रों को आलोकित करती जान पड़ती है, उसी तरह यहाँ भी यह कविता इन यूरोप-यात्राओं का—'ममेतर' के इन सजीव बिम्बों का—मर्म उद्घाटित करती है।

—मुझको दीख गया :
हर आलोक छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से

नश्वरता के विचार से आक्रान्त पश्चिम की यह यात्रा पश्चिम के सांस्कृतिक केन्द्रों, धर्म-केन्द्रों और स्नायु-केन्द्रों का ही नहीं, पश्चिम के अभिजन और समूह जन का भी साक्षात्कार करानेवाली है। अध्यायों के शीर्षक ही उनकी सामग्री का भी संकेत दे देते हैं : 'खुदा के मसखरे के घर : असीसी', 'यूरोप की अमरावती : रोमा', 'यूरोप की पुष्पावती : फिरेंजे', 'बीस हज़ार राष्ट्रकवि', 'बीसवीं शती का गोलोक'...। ग़ौर करने की बात है कि लेखक इस 'ममेतर' को—यानी पश्चिम को—किस गहरी सहानुभूति के साथ अपनी संस्कृति की शब्दावली में समझना-पकड़ना चाहता है! जहाँ एक ओर उसकी आलोचना—बुद्धि सतत जागरूक रहती है, वहीं दूसरी ओर वह आलोक-छुए अपनेपन से अभिभूत हो सकता है, उसे यथावत् देख और सम्प्रेषित कर सकता है। पुस्तक के अन्त में 'प्राची-प्रतीची' शीर्षक से यूरोप-प्रवास की डायरी भी विन्यस्त कर दी गयी है जो इस समूचे यात्रा-नुभव को एक बौद्धिक परिप्रेक्ष्य दे देती है। किन्तु यात्रान्त की इस गंभीर चिन्तना से भी वही लाभान्वित हो सकते हैं जो यात्रारम्भ से ही बराबर लेखक के साथ थे। लेखक का पहला ही सम्बोधन अपने पाठक के प्रति सुनिए :

"फ़ालतू असबाब से छुट्टी पाते हुए सहज भाव से यात्रा करता सीखते चलना ही मेरा उद्देश्य रहा है—विदेशाटन में ही नहीं, जीवन-यात्रा में भी। इस प्रकार क्रमागत 'बेसरोसामान'—हो जाने में संन्यास की नाटकीय तीव्रता नही है लेकिन इससे मिलनेवाले हल्केपन से मुक्ति का जो बोध होता है, वह कुछ कम मूल्यवान् नहीं है।"

इस भूमिका के तुरन्त बाद यात्रानुभव आरम्भ हो जाता है—'यूरोप की अमरावती : रोमा' का यात्रानुभव। रोम के सौन्दर्य को अपनी रीझ-बूझ प्रकट करते-करते लेखक को नयी दिल्ली याद आ जाती है और वह कह उठता है :

"नयी दिल्ली भी शायद रोम की सात पहाड़ियों के समान सुन्दर हो सकती यदि हमने सातों पहाड़ियों को खोदकर सपाट न कर दिया होता और यदि स्थापत्य की हमारी अपनी परम्परा होती। परम्परा के नाम पर जो सहस्र वर्ष या उससे अधिक पुराना है उसी को इंगित करने के हम इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि इस बात को भूल ही जाते हैं कि परम्परा में जो पूर्वापरत्व निहित है वह तभी सार्थक हो सकता है जबकि 'पूर्व' के साथ 'अपर' भी हो।"

लेखक की दार्शनिक—धार्मिक जिज्ञासा का स्वभाव भी इस पुस्तक में जगह-जगह प्रकट हुआ है। विशेषकर 'एक यूरोपीय दार्शनिक से भेंट', 'असीसी' तथा 'एक दूसरा फ्रांस' शीर्षक अध्यायों में। 'पिएर क्वे-वीर' मठ के प्रवास का अनुभव इस दृष्टि से अत्यन्त मार्मिक है।

किन्तु मानव चरित्र के भीतर गोता लगानेवाले स्वभाव की अभिव्यक्ति 'बर्लिन' वाले अध्याय में सबसे प्रभावशाली ढंग से हुई है। "यूरोप का असली चेहरा मूलतः बर्लिन का चेहरा है"—लेखक कहता है। क्यों है, इसका उत्तर भी हमें जल्द ही मिल जाता है। कुछ सारगर्भ और आलोकप्रद घटनाओं में, जो लेखक की डायरी में लिपिबद्ध की गयी थीं। कार्ल की कथा, मायर-दम्पति की कथा, मदाम अल्वारेस की कथा…क्या इन सब कथाओं में हर बार वही नर नहीं झाँकता 'जिसकी अनझिप आँखों में नारायण की व्यथा भरी है?' क्या यहीं कहीं वह आलोक-छुआ अपनापन भी निहित नहीं, जो 'उन्मोचन है : नश्वरता के दाग़ से' भी?

अज्ञेय के निबन्धकार-रूप का भी एक संक्षिप्त उल्लेख यहीं लगे-हाथ कर ले जाना ठीक होगा। 'सबरंग' काफ़ी पहले छपा था : 'कुट्टिचातन्' के नाम से अज्ञेय ने कुछ हल्की-फुल्की चीजें लिखी थीं, उन्हीं का संकलन। यही संकलन फिर 'सबरंग और कुछ राग' नाम से 1982 में पुनर्मुद्रित हुआ था। उसका परिचय स्वयं लेखक ने कुछ इस तरह दिया है कि वह इन रचनाओं पर स्वयंपर्याप्त टिप्पणी बन जाता है।

> " 'सबरंग और थोड़ा राग' : राग के नाम पर कुछ एक नये निबन्ध हैं जिनमें कुछ यहाँ पहली बार प्रकाश में आ रहे हैं। पहले भी सब रंग ही रंग नहीं था, थोड़ा राग-रोष भी उसमें व्यंग्य था, नये निबन्धों में इसका कसैलापन थोड़ा अधिक है शायद, राग-रंग के बीच इस नये राग स्वर की पहचान पर 'आपनारा राग करिबेन ना', यही अनुरोध है।"

कहना न होना कि इस स्वयंपर्याप्त टिप्पणी की 'टोन' इनमें से कुछेक निबंधों की 'टोन' को भी काफ़ी कुछ झलका देती है। वाक्-प्रतिभा का नृत्य देखना हो तो 'नखरे में गर्म मसाला' और 'भूमिका तो रह ही गयी' को पढ़ा जा सकता है। और गहरे उतरने का मन हो तो 'शारदीया धूप' का सन्देश पढ़ा जा सकता है अथवा 'सन्नाटा' को सुनने का उपक्रम किया जा सकता है।

अज्ञेय का दूसरा निबन्ध-संग्रह 'कहाँ है द्वारका' (1982) निश्चय ही नैबंधिक गुणवत्ता की दृष्टि से उनके पहले संग्रह की तुलना में श्रेष्ठतर है। बारह निबन्धों के इस संग्रह का सबसे गहरा और सबसे भावपूर्ण निबन्ध वही है जिसके

आधार पर पूरे का नामकरण किया गया है। लेखक के दिवास्वप्नों में अक्सर एक बिम्ब उभरता है, एक नगर-द्वीप का···जब भी यह बिम्ब उभरता है, वह देर तक उसमें डूबा रहता है। इसे उसने अपनी ओर से द्वारका का नाम नहीं दिया था। किन्तु माघ के शिशुपाल-बध में द्वारका का वर्णन पढ़ते हुए उसे एकाएक लगा कि यही तो है मेरे दिवा स्वप्न की द्वीप-पुरी।····"पूर्व जन्म के संस्कार की बात तो मन में नहीं आयी, लेकिन ऐसा ज़रूर लगा कि मैंने अवश्य ही कभी किसी रहस्य-मय ढंग से द्वारका के दर्शन किये होंगे।" फिर उसने अपने पिता से बेट द्वारका अर्थात् द्वीप द्वारका का वृत्तान्त सुना। क्या ही विचित्र बात है कि भूमंडल की कई परिक्रमाएँ कर चुका लेखक अभी तक उस द्वीप-द्वारका को देखने नहीं गया। क्यों? इसलिए कि "कहीं उसमे मेरे दिवा-स्वप्न की पूर-योध्या को आघात न पहुँचे ?' निबन्ध का समापन देखिए :

> "विचित्र बात यह है कि लौटकर उस जीवन में भी जब उस द्वारका की याद आती है तो उसके साथ वंचित हो गये होने का कोई पर्युत्सुकी भाव नहीं जागता, बल्कि एक सिहरनभरी मगर फिर भी गहरी आश्वस्ति का ही बोध होता है जिससे मैं पूछता हूँ तो अप्रश्न-भाव से ही पूछता हूँ—कहाँ है द्वारका ?"

'छाया का जंगल' (1984) अज्ञेय के ललित निबन्धों का तीसरा संग्रह है। इस नाम के निबन्ध की प्रेरणा लेखक को स्वयं उन्हीं के द्वारा आयोजित 'जय जानकी जीवन यात्रा' के दौरान वाल्मीकि नगर के अरण्य में हुए एक अनुभव से मिली थी। दिवास्वप्न यह नहीं है किन्तु इसमें दिवास्वप्न का आस्वाद भी है और एक तरह की रागदीप्त दार्शनिकता का भी। 'छाया का जंगल' मानो साकार होकर लेखक से स्वयं कहता है :

> "हर पौराणिक अभिप्राय एक रूपक होता है। वह रूपक मानो एक बड़े सत्य का मुखौटा है। मुखौटे की ओट हम उस सत्य को देख लेते हैं, अपलक उसकी ओर ताक सकते हैं, नहीं तो उसकी चौंध हमें अन्धा कर दे। यहाँ रूपक क्या है ? वह छिपा हुआ सत्य क्या है ?
>
> एक तो प्रेम है जो सूर्य है—उसके धाम में जीना एक आलोकित जीवन है और उससे एक असन्दिग्ध छाया भी पड़ती है। जो प्रेममय है उसकी यह छाया ही उसी के समक्ष उसके अस्तित्व का प्रमाण देती है। नहीं तो वह शायद एकान्त रूप से आत्मविस्मृत हो जाए। उसकी छाया ही उसे संज्ञान दिलाती है, बोध कराती है कि वह है। इस प्रकार प्रेममय जीवन का भी अह है जो उसकी छाया है और जो उसे आत्मचेतन कर देता है।"

पाठक देख सकता है—इस एक दृष्टान्त से ही अनुमान कर सकता है कि अज्ञेय के इस प्रौढ़तम निबन्ध संग्रह से उसकी अपेक्षाओं का रूप क्या हो सकता है या क्या होना चाहिए।

'एक अन्तराल', 'चिट्ठी आयी पड़ी है', 'वासुदेव प्याला' और 'कहाँ पहुँचे' भी इसी स्तर की निबन्ध-रचनाएँ हैं जिनका अध्ययनानुभव न केवल अपने आपमें सन्तोषदायी है, बल्कि अज्ञेय के काव्य और चिन्तन के बृहत्तर सन्दर्भ में भी अर्थोन्मेषकारी है।

पाठक इसी प्रवाह में अज्ञेय-साहित्य की एक अपेक्षाकृत कम परिचित विधा में भी लगे हाथ डुबकी लगा ले सकते हैं। कवि-कथाकार-चिन्तक अज्ञेय की 'अन्तः-प्रक्रियाओं' के तीन संकलनों—'भवन्ती', 'अन्तरा' और 'शाश्वती' में, जिन पर अलग से विचार करना यहाँ संभव नहीं है। वैसे भी, वे पाठक की सीधी अंतरंगता माँगती हैं। यहाँ केवल कौतूहल के शमन की दृष्टि से 'शाश्वती' से कुछ नमूने उद्धृत किये जा रहे हैं ताकि पाठक स्वयं इस सामग्री के गुण और वैविध्य का कुछ अनुमान कर सके। निश्चय ही ये सब काम की बातें : लेखक के अपने 'काम' की बातें; और इसलिए पाठक के भी :

> महान् रचना का यथार्थ वह है जो वह रचना करती है, वह नही जो आप समझते हैं।
>
> × ×
>
> अफ्रीकियत की खोज अफ्रीकी व्यक्ति को ही नहीं, अफ्रीकी समाज की भी है। एक सामाजिक अस्मिता की खोज और एक व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की खोज अनिवार्यतः उस आत्म-परिकल्पना में जुड़े हुए हैं। बिना ऐसी संश्लिष्ट व्याकुलता के उधर प्रगति हो ही नहीं सकती—वह अवधारणा ही प्राणवान नहीं हो सकती। क्या भारतीय समाज को भी भारतीयता की खोज है?···
>
> × ×
>
> शाम सात बजे मन्त्री ने पुस्तक विमोची
> सबेरे छः बजे अखबार ने आलोची
> प्रकाशक प्रसन्न हुआ
> लेखक भी धन्न हुआ
> दुःख यही कि पढ़ने की किसी ने नही सोची
>
> × ×

पहले नर था
और उसकी नारी थी
अब
नारी है
और उसका नारा है

×

···अन्ततोगत्वा नैतिक मूल्यों और कला-मूल्यों का एक विरोध रह जाता है जिसका समाधान नहीं है : जाना हुआ नहीं है या कम-से-कम मुझे नहीं दीखता। पर वह नहीं मिला, इसलिए इन मूल्यों के या इनमें से किसी एक पक्ष के प्रति निष्ठा अधूरी रही या चिन्तन अधूरा रह गया, ऐसा क्यों मान लूँ ? विरोध की उस अन्तिम स्थिति में समाधान नहीं, सन्तुलन ही अभीष्ट है। 'एक तनी हुई रस्सी है जिस पर मैं नाचता हूँ···'

अपने-अपने अजनबी

सेल्मा का घर अचानक एक रात बर्फ़ के नीचे दब गया। सेल्मा उस घर में पिछले अट्ठाईस वर्षों से रह रही है। योके नामक एक तरुणी एकाध दिन पहले ही सैर-सपाटे के सिलसिले में वहाँ आकर रुकी है। सेल्मा बुढ़िया है और कैंसरग्रस्त भी। वह योके से कहती है—"ख़तरा तुम्हारे लिए कोई नयी चीज़ नहीं है। लेकिन ख़तरे में डर के दो चेहरे होते है, जिनमें एक को दुस्साहस कहते हैं। धीरज में डर का एक ही चेहरा होता है और उसे देखे बिना काम नहीं चलता। उमे पहचान लेना ही अच्छा है—तब उतना अकेला नहीं लगता।"

एक तरह से देखा जाए तो यही इस उपन्यास की अन्तर्वस्तु है। 'धीरज में डर के एकमात्र चेहरे को पहचान लेने' की बात। इस पहले खण्ड का नाम ही है 'सेल्मा और योके'। योके की डायरी में सेल्मा की छवि देखिये : "सेल्मा भी काल में ही जीती है जैसे कि हम सब जीते हैं, लेकिन वह मानो किसी एक काल में नहीं जीती, वल्कि समूचे काल में जीती है। मानो वहाँ काल एक प्रवाह नहीं है, उसमे कुछ भी आगे-पीछे नहीं है, बल्कि सब एक साथ है। सब एक साथ हैं इसलिए इतिहास नहीं है।"

योके सेल्मा से पूछती है—"वह क्या है जो तुम्हें सहारा देता है, जबकि मुझे डर लगता है?" बुढ़िया कहती है—"मुझे किसका सहारा है, मैं नहीं जानती!··· और मौत और ईश्वर को हम अलग-अलग पहचान भी तो कभी-कभी ही सकते हैं। मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकनेवाला रूप है। पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर ज्ञान है, बाक़ी सब सतही बातें है और झूठ हैं।" एक और जगह सेल्मा योके से कहती है—"तुम जो अपने को स्वतंत्र माननी हो, वही सब कठिनाइयों की जड़ है। क्या तुम स्वतंत्र हो कि मुझे मरती हुई न देखो? ऐसी सब स्वतंत्रताओं की कल्पनाएँ निरा अहंकार हैं।"

ऐसे संवादों के बाद योके अपने आपमे पूछने लगती है—"क्या मैं उसमे ज्यादा लाचार, ज्यादा दयनीय नहीं हूँ? क्या मुझे ही ज्यादा कैंसर नहीं है—वह कैंसर, जिसे हम ज़िंदगी कहते हैं?"

सेल्मा उससे कहती है—"योके, मै यह सब एक बार पहले देख चुकी हूँ।

इसमें से गुजर चुकी हूँ।'' तब अट्ठाईस साल पहले की—'दूसरी दुनिया की बात' —सामने आती है। उपन्यास के दूसरे खण्ड में, जिसका नाम ही 'सेल्मा' है। इसलिए कि वह सेल्मा की ही जीवन कथा है: उसकी सारभूत जीवनी। एक क़स्बा है जिसके बीचोबीच एक नदी बहती है। बाढ़ आती है जिसमें सिर्फ़ पुल का बीच का हिस्सा और उसके ऊपर बनी दुकानों के तीन प्राणी बचे रहते है सेल्मा, यान और एक फ़ोटोग्राफ़र। यान सेल्मा से कुछ खाने की सामग्री ख़रीदने आता है। क्रूर स्वार्थ के वशीभूत सेल्मा उससे अँधाधुंध दाम वसूल करती है। चौथे दिन यान फिर उसके पास कुछ खरीदने आता है। दोनों के बीच की दीवार पहले से भी ज्यादा मोटी हो जाती है। फ़ोटोग्राफ़र के साथ भी वह वैसा ही सलूक करती है। वह बीमार पड़ जाता है। रात में एकाएक सेल्मा देखती है फोटोग्राफ़र की दूकान जल रही है। देखते-देखते वह नदी में छलाँग लगा देता है। यान फिर आता है गोश्त ख़रीदने, जिसका सेल्मा फिर अँधाधुंध दाम वसूलती है। यान अपने पास के सारे सिक्के उसके मुँह पर फेंक मारता है। सेल्मा निर्लज्ज उपेक्षा के साथ गोश्त का आधा करके यान को लौटाती है और सिक्के बटोर लेती है। रात में यान फिर उसका दरवाजा खटखटाता है। यान कहता है—''···अगर यह बाढ़ ऐसी ही रही, मैं भूखा मर गया तो तुम बचकर कहाँ जाओगी? आओ, यह गोश्त मैंने अपनी अन्तिम पूँजी देकर ख़रीदा और पकाया है। इसे अकेला नहीं खा सकूँगा।'' सेल्मा कहती है, ''नहीं यान, तुम अकेले ही खाओ।'' अचानक उसके मुँह से निकल पड़ता है, ''यान, तुम मुझसे विवाह करोगे?'' यान कहता है—''तुमसे विवाह! तुम्हारी इस सड़ी पाप की कमाई से विवाह? नहीं, मुझे नहीं चाहिए। लो, सारा गोश्त तुम्हीं रख लो।'' उसके चले जाने पर सेल्मा अपनी आलमारी से खाने की तमाम चीजें निकाल-निकाल कर यान के पास ले जाती है और कहती है—''तुम्हारा न्यौता स्वीकार है। पर यह मेरी ओर से है। इसका भी साझा करो।'' वह यान को एक चिट्ठी थमाकर लौट जाती है और अपने कमरे में बन्द होकर फफक पड़ती है।

सेल्मा अपनी सारी कमाई की वसीयत यान के नाम लिख कर दे आयी थी। चौथे दिन यान आकर दरवाजा खटखटाता है—''बाढ़ उतर गयी सेल्मा! बाहर आओ।'' सेल्मा उससे पूछती है—''यान, अब तो मेरा कुछ नहीं है। अब मुझे स्वीकार करोगे?'' यान सेल्मा के सामने ही उसके वसीयतनामे को फाड़कर फेंक देता है और उसे सहारा देके नाव में उतारता है। दोनों का एक नया जीवन आरंभ होता है। नयी गृहस्थी।···फिर एक दिन आया कि यान भी नहीं रहा। ''···पर वह अर्थवत्ता नहीं मिटती।···जीवन सदा ही वह अन्तिम कलेवा है जो जीवन देकर ख़रीदा गया है और जीवन जलाकर पकाया गया है और जिसका साझा करना ही होगा।''

योके ने नहीं जाना कि सेल्मा कब मर गयी। मृत्यु-गंध उस पर छा जाती है। किसी तरह सेल्मा को दफ़नाकर योके अपने आपसे पूछती है—"क्या यही रहस्य था जिसका आभास सेल्मा को मिला था कि वरण की स्वतंत्रता नहीं है लेकिन रचना फिर भी संभव है और उसी से मुक्ति है।" लगता है यहाँ योके नहीं, स्वयं लेखक बोल उठा है।

योके के प्रेमी पॉल गोरेन से मुलाक़ात के साथ यह दूसरा खण्ड भी समाप्त हो जाता है। तीसरा खण्ड आरम्भ होता है: 'योके' के नाम पर। योके के आख़िरी दिनों की संक्षिप्त, नाटकीय कथा। जर्मन आधिपत्य वाले एक शहर की गली में एक दुकान पर लोगों की भीड़···सारे चेहरों पर निर्मम जीवैषणा का भाव—मानो वह सौदे-सुलफ़ की नहीं, स्वयं जीवन की दुकान हो। इसी दुकान की लाइन में लगा जगन्नाथन्—एक नया ही पात्र—अब दृश्य में उभरता है। उसने किसी तरह कुछ खाने का सामान ख़रीद लिया है। इतने में एक औरत झपटती हुई आती है और अपनी जलती सिगरेट बेचारे के पनीर पर रगड़ देती है। जगन्नाथन् के यह पूछने पर कि 'तुमने यह क्या किया', वह पनीर उसके हाथ से ज़मीन पर गिराकर भागने लगती है। विमूढ़ जगन्नाथन् उसके पीछे दौड़ता है। भीड़ में से किसी ने फ़ब्ती कसी—"फाँस लिया।" औरत के पास पहुँचकर जगन्नाथन् बड़े कोमल स्वर में पूछता है, "ऐसी तुम्हारी क्या लाचारी थी जो तुमने ऐसा किया?" स्त्री बिफर जाती है—"तुम मुझे मारने आये थे। तो अब मारते क्यों नहीं?" हतप्रभ जगन्नाथन् के बोल नहीं फूटता। स्त्री फिर उससे कहती है—"तो क्या तुम···वे लोग जो कह रहे थे, उसी के लिए···?" जगन्नाथन् कहता है—"तुम ऐसा सोच भी कैसे सकती हो?" यह सुनकर वह औरत एक टिकिया निकालकर निगल लेती है और कहती है—"नाथन्, मुझे माफ़ कर दो। मेरे ख़िलाफ़ इस बात को याद मत रखना। मैं मर रही हूँ। मैंने चुन लिया। चाहती थी किसी अच्छे आदमी के पास मरूँ क्योंकि मरना नहीं चाहती थी।"

जगन्नाथन् डॉक्टर को बुलाने उठता है। पर औरत उससे कहती है—"उससे कोई फ़ायदा नहीं। वह सिर्फ़ एक साक्षी चाहती थी अपनी मृत्यु का और वह उसने चुन लिया है। कहती है—"हरामी दुनिया से कह दो—अन्त में मैं हारी नहीं—मैं मरियम, ईश्वर की मा मरियम, जिसे जर्मनों ने वेश्या बनाया।" वहाँ जुट आयी लोगों की भीड़ को सम्बोधित करते हुए योके (हाँ, वह योके ही है) उन्हें बताती है: "मैंने अपने मन से चुना है। मैं मर रही हूँ, हरामी मौत। फिर वह जगन्नाथन् की ओर मुड़कर कहती है—"उससे भी कह दिया, उससे भी। पॉल से, उस अजनबी से।"

यानी जो उसका प्रेमी और पति था, वह दरअसल अजनबी है। और जो सचमुच अजनबी है—जगन्नाथन्, वही सच्चा आत्मीय है, क्योंकि वह अच्छा

आदमी है। इसीलिए तो योके फिर कहती है—"हम अजनबी नहीं चुनते, हम अच्छे आदमी चुनते हैं। मैंने अच्छा आदमी चुना। उसमें मैं जियूँगी। नाथन्, मुझे माफ़ कर दो।" जगन्नाथन् बोलता है, "हाँ योके, किया, पर माफ़ करने को कुछ है तो नहीं।" एकाएक योके कहती है—"मैंने भी किया, अच्छा आदमी! उसको भी।" "किसको?" जगन्नाथन् पूछता है। इस पर योके के चेहरे पर एक क्षणिक दुविधा का भाव आ गया। फिर उसने कुछ कहा, जिसे जगन्नाथन् ठीक से सुन नहीं पाया। क्या कहा था, यह जानने का कोई उपाय न रहने पर भी जगन्नाथन् को एकाएक ध्रुव-निश्चय हो आया कि योके ने कहा था—'ईश्वर को।'

स्तब्ध भीड़ में एक बूढ़ा आदमी क्रूस का चिह्न बनाने का उपक्रम करता है। पर····"वह चिह्न सूने आकाश में अजनबी-सा टँका रह गया।"

योके ने सेल्मा की मृत्यु का साक्षी होना नहीं चुना था। वह तो सिर्फ़ एक संयोग था। न सेल्मा ने ही योके को अपना साक्षी बनाना चाहा था। योके तो सेल्मा की जीवन-कथा को पाठक तक पहुँचाने का साधन भर है वहाँ। किन्तु जगन्नाथन्? जगन्नाथन् को तो योके ने खुद अपनी मृत्यु का साक्षी चुना है अपनी यातना और दलन की पराकाष्ठा के क्षणों में। क्या यह महज़ संयोग है? ऐसा क्यों नहीं संभव है कि जगन्नाथन् तक पहुँचने के लिए ही यह सारी कथा-यात्रा नियोजित हुई—जगन्नाथन् तक—यानी अहेतुक प्रेम और करुणा—'महाकरुणा' के निपट आस्तित्विक अर्थ और प्रयोजन तक?

आधुनिक भारतीय लेखन में पूर्व और पश्चिम के जीवन-मूल्यों की टकराहट क्रमश: सूक्ष्मतर स्तरों की ओर बढ़ती देखी जा सकती है। अज्ञेय के प्रसंग में भारतीय आधुनिकता की चर्चा यदि संगत लगती है तो इसीलिए कि उन्होंने संवेदना के स्तर पर पश्चिम की चुनौती को झेला है और अपने रचनात्मक विकास-क्रम में मात्र गतानुगतिकता का विरोध करते हुए, उससे जूझते हुए भारतीय दृष्टि को नये सन्दर्भों में नयी अर्थवत्ता के साथ प्रतिष्ठित करने का यत्न किया है। 'आँगन के पार द्वार' और उसके परवर्ती काव्य में इस अर्जित अर्थवत्ता का जो रूप प्रकट हुआ है उसका पूर्वाभास हमें 'अपने-अपने अजनबी' में दिखायी देता है: सेल्मा और योके की इस कथा में, और जगन्नाथन् के रूप में उसकी परिणति में।

'आँगन के पार द्वार' और उसके बाद

'आँगन के पार द्वार' में एक कविता है : 'अनुभव-परिपक्व', जिसके प्रारम्भ में एक बालक माँ से गानेवाले टीन के लट्टू की माँग पर अड़ा हुआ है। थोड़ी देर बाद उसकी माँग घटकर दो पैसे की काग़ज़ की फिरकी की रह जाती है और कविता के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह कह उठता है :

"अच्छा माँ, मुझे खाली मिट्टी दे दो
मैं कुछ नहीं माँगूंगा
मेले जाने की हठ नहीं ठानूंगा
जो कहोगी मानूंगा।"

यह कविता 1961 की लिखी हुई है। तब से अज्ञेय के काव्य, चिन्तन और लोक-यात्रा में जाने कितने मोड़ आये किन्तु वे सब, लगता है, इस अनुभव-परिपक्व बालक द्वारा दिये गये वचन के मेल में ही हैं।

अज्ञेय की कविताओं के एक संग्रह की सम्पादकीय भूमिका में विद्यानिवास मिश्र ने लिखा था कि "अज्ञेय के कृतित्व का बीज विद्रोह की आँधी और प्रथम प्रणय की वर्षा के बीच वपन किया गया। वह अंकुर हुआ 'कतकी पूनो' की छाया में और पौधा हुआ 'इन्द्रधनु रौंदे हुए' के आलोक में।" यहाँ तक कि अज्ञेय की काव्य-यात्रा की झलक हम पिछले अध्यायों में पा चुके है। पाठकों को 'हमने पौधे से कहा' शीर्षक कविता का स्मरण होगा जिसमें कवि सृजन-प्रक्रिया के पीछे कार्यरत अँधेरे और कर्दम को पहचानता हुआ कवि से समाज की अपेक्षाओं के सतही रूप पर व्यंग्य करता हुआ कहता है :

"गहरे न जाना कहीं, आँचल बचाना सदा, दामन हमेशा पाक रखना"
जबकि, हकीक़त यही है कि···"कचरा दो राख दो अशुभ दो उच्छिष्ट दो
वह तो है सृजन-रत : उसे सब रस है।"···

'इन्द्र धनु रौंदे हुए' की इस कविता को यदि हम अज्ञेय की अपेक्षाकृत हाल की एक कविता 'नाच' के साथ रखकर पढ़ें तो हम देखेंगे कि 'बात' तो पहलेवाली कविता से मिलती-जुलती है, किन्तु 'नाच' में अभिव्यक्ति असन्दिग्ध रूप से अपेक्षा-

कृत कसी हुई और प्रौढ़तर है, जिस कारण बात भी अधिक एकाग्र और संश्लिष्ट रूप में अधिक मार्मिक अर्थवत्ता के साथ उजागर हुई है।

अज्ञेय की काव्यभाषा में उत्तरोत्तर परिष्कार और खुलाव आता गया है। जहाँ जीवन और रचना का सम्बन्ध आरम्भ से ही घनिष्ठ रहा हो, जहाँ मनुष्य होने का दावा कृतिकार होने के दावे को सचेत स्तर पर ('कृती नहीं हम/कृति-कारों के अनुयायी भी नहीं कदाचित्'···) सदा पीछे ठेलता रहा हो, वहाँ कविता में जहाँ-तहाँ 'उचित उपदेश का मर्म' भी झलक आता रहा हो, तो यह अचरज की बात नहीं है, क्योंकि अज्ञेय के लिए रचना स्वयं जीवन की अर्थवत्ता की खोज का ही अंग है। इस अनिवार्य नैतिक संवेदन की स्थिति को स्वीकार कर लेने के बाद ही काव्य-कला के क्रमिक विकास की चर्चा उपयुक्त लगती है। विद्यानिवास मिश्र ने अज्ञेय की काव्य-यात्रा के ऐसे तीन सोपानों का उल्लेख किया था—'विद्रोह और हताशा का दौर', 'शक्ति-संचय का दौर' तथा 'बिना किसी आशा के आत्म-दान में सार्थकता' पाने का दौर। निश्चय ही विद्रोह और हताशा की आत्म-स्थितियाँ बाद के कविताओं में भी अनुभव की जा सकती है और बिना किसी आशा के आत्मदान में सार्थकता पाने की तड़प पहले की रचनाओं में भी कार्यरत देखी जा सकती है। प्रश्न जो मन में उठता है, वह यह है कि क्या 'आँगन के पार द्वार' से लेकर अन्तिम दिनों तक की काव्य-यात्रा को परिभाषित करने के लिए यह तीसरे सोपान का सूत्र पर्याप्त है? यह एक कठिन प्रश्न है और इसका उत्तर स्वयं अज्ञेय के उत्तर-काव्य के आन्तरिक साक्ष्य में ही खोजा जा सकता है—बिना अपनी ओर से उसे सूत्रबद्ध किये।

स्वयं 'आँगन के पार द्वार' में संकलित 'चक्रान्त शिला' की कविताओं में भी अज्ञेय का कवि जिस तरह पूर्व और पश्चिम की आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टियों को टटो-लता दीख पड़ता है, उससे ऐसा नहीं लगता कि उसकी स्थिति केवल बिना किसी आशा के आत्मदान में सार्थकता पाने की स्थिति है। कहने को एलियट भी इसी तरह की बात 'फोर क्वार्टेट्स' में कहता है: (बिकॉज आइ डू नॉट होप टु टर्न अगेन···) किन्तु है तो अन्ततः वह दान्ते का शिष्य ही। क्या हम इसी तरह अज्ञेय के कवि को भी ईसाई धर्म की 'आत्मा की अँधेरी रात' वाली अवधारणा को अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक लेते और उसके पार किसी अर्थ के आश्वासन की ओर उन्मुख नहीं देखते? देहरी पर ठिठका हुआ भी वह कहता तो है कि ···"चलने की है यही प्रतिज्ञा/पहुँच सकूँगा मैं/प्रकाश के पारावार तक···" यह प्रश्न भी आखिर उसी के तो मन में उठता है कि ···"क्यों चलना यदि पथ है केवल/मेरे अन्धकार से सबके अन्धकार तक?"··· क्या वह इस सम्भावना को—भले इसके लिए वह बौद्ध शब्दावली का प्रयोग करे—अपने सामने नहीं लाता कि 'आत्मा की अँधेरी

रात' को धैर्यपूर्वक पार कर सकने के बाद, उसे लाँघकर ही 'सब कुछ धारण करने वाली पारमिता करुणा तक' पहुँचा जा सकेगा ?

यह अकारण नहीं हो सकता कि अज्ञेय अपने प्रौढ़ काव्य में न केवल बौद्ध और ईसाई अवधारणाओं तथा प्रतीकों का उपयोग अनिवार्य पाते हैं, अपितु वैदिक ज्ञान प्रतीकों का भी। देखा जाए तो ये तीनों उनके यहाँ घुल-मिल से जाते हैं। "···व्यथा सबकी/निविड़तम एकान्त मेरा/कलुष सबका स्वेच्छया आहूत/सद्यः-धौत अन्तःपूत/बलि मेरी···"। इसी तरह 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की 'मैं और तुम' कविता को याद कीजिए जिसमें कवि कहता है : "झर गए तुम्हारे पात/मेरी आशा नहीं झरी···"। इसी सिलसिले में 'एक दिन चुक जाएगी ही बात' शीर्षक कविता को भी देखा जा सकता है। यह बात क्या है ? निश्चय ही आत्मदान में सार्थकता पाने की ही। किन्तु क्या बिना किसी आशा के ? 'कितनी नावों में कितनी बार' का कवि तो कहता है :

> प्रकाश मेरे अग्रजों का है
> कविता का है, परम्परा का है
> पोढ़ा है, खरा है :
> अन्धकार मेरा है
> कच्चा है, हरा है।

स्वतंत्रता-संग्राम में अपने युवा जीवन की आहुति देनेवाला कवि देश की स्वतंत्र्योत्तर दुर्दशा से विक्षुब्ध है। उसकी कविता जहाँ एक ओर आत्म-परिष्कार, आत्म-साक्षात्कार का साधन रही है, वहीं 'जीवन की आलोचना' भी। 'आँगन के पार द्वार' को पढ़ते हुए यह शंका मन में उभरी थी कि कहीं यह दूसरा पक्ष कवि के हाथ से छूट तो नहीं जानेवाला है। किन्तु बाद के संग्रहों ने इस शंका को निर्मूल सिद्ध कर दिया। 'नन्दा देवी' सीरीज की कविताएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं :

> जहाँ तक दीठ जाती है
> फैली हैं नंगी तलैटियाँ
> एक-एक कर सूख गये हैं
> नाले, नौले और सोते
> कुछ भूख, कुछ अज्ञान, कुछ लोभ में
> अपनी संपदा हम रहे हैं खोते
> ज़िन्दगी में जो रहा नहीं, याद उसकी
> बिसूरते लोकगीतों में
> कहाँ तक रहेंगे सँजोते ?

इस क्रमागत काव्य में जीवन की आलोचना भी है और आत्मा की अनुसंधित्सा भी। अपनी विकल आलोचना और निराशा का सामना करने के कारण ही कवि आशावान् भी है। इसीलिए जहाँ एक ओर कवि कहता है—"यों/मैं चरम वरण को टालता/और अपने को ही छलता हूँ" वहीं दूसरी ओर यह भी कि ...."कवि नहीं वरेगा/कवि को घेर लेंगी/वरण की वाँहें/पर कौन कहेगा कि कवि/तब भी कवि रहेगा/जब साधक के भीतर/प्रपात की धार-सा एक ही गुजार करता/अद्वैत/बहेगा।"...

'अरी ओ करुणा प्रभामय' में एक बड़ी मर्मस्पर्शी कविता है—'वहाँ पर बच जाए जो'। इस कविता में कवि आत्मदान की सार्थकता के बारे में ही अपनी अकुलाहट को अभिव्यक्ति देता हुआ कहता है कि जहाँ पर तन भी देने लायक पावन थाती नहीं, मन भी यज्ञ का दुर्दान्त घोड़ा नहीं, धन भी 'दान' करने योग्य नहीं, अहं भी वह अंतिम निजत्व नहीं जिसे लुटाकर कम-से-कम औदार्य का संतोष ही मिले : ...."वहाँ पर बच जाए जो/वह क्या—मैं नहीं हूँ जानता ओ देवता/तू जान जो सब जानता है।" उसी अंतिम सर्ग, "पर बच जाय जो/वही तेरा हो/उसी को ले/मुक्ति मुझको दे..."। यह कविता, देखा जाए तो एक तरह से आधुनिक कवि की विनय-पत्रिका सरीखी है। उसके बीस साल बाद 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' संग्रह की 'तुम्हारे गण' और 'हँसती रहने देना' जैसी कविताएँ उस गहरी अन्तर्यात्रा की गवाह हैं, जहाँ कवि उस दुर्निवार विषाद भावना से भी उबरकर अपनी जोखम से निखरी आस्था को झलका सका है।...चूंकि आँखों ने "हार, दु:ख, अवसान, मृत्यु का अन्धकार भी देखा तो सच-सच देखा", इसलिए, इसी बूते पर कवि कह सका है कि :

> ...इस पार उन्हें जब आवे दिन
> ले जावे, पर उस पार उन्हें
> फिर भी आलोक-कथा सच्ची कहने देना
> अपलक हँसती रहने देना...।

कवि अपने अन्तर्मन और बहिर्मन के बीच कलह की जड़ नहीं, मथानी देखता है और उसी से 'होने के सागर' को मथने का आह्वान करता है। 'महावृक्ष के नीचे' संग्रह में 'जरा व्याध' शीर्षक एक कविता है, जिसमें व्याध कहता है—"मैं पुण्य भ्रष्ट होकर भी/पाप नहीं लाया ढोकर"। इसी के अगले संकलन 'नदी की बाँक पर छाया' में, देखिए, वही 'जरा-व्याध' शीर्षक की क्रमागत कविताएँ क्या कहती हैं :

मर्माहत ही मिले मुझे वह
मैं भी मर्मविद्ध
यों बँधा रहूँ
कल्पान्तरतर-कल्पान्त
पुकारा करूँ
नाम
नारायण हे !
नहीं नहीं नहीं !
मेरा एक ही शरण्य है
वही जिसे मैंने शरविद्ध किया है।
कृष्ण ! मैने मारा नही तुम्हें, मैंने
अपने को बाँधा है तुम्हारे साथ—
और तुम भी मेरे साथ बँधे हो
मेरे साथ ? व्याध के !

यही क्या
नियति है ?

स्पष्ट ही, नियति का ऐसा दर्शन शेखर के नियतिवाद को काफ़ी पीछे छोड़ आने के बाद—उसमे बहुत आगे निकलकर ही—सम्भव हो सकता था।

युग-बोध

आधुनिक हिन्दी भाव-बोध के इतिहास में 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व और कृतित्व केन्द्रीय महत्त्व रखता है। व्यक्तित्व और कृतित्व को यदि हम यहाँ एकवचन की तरह देख रहे हैं तो उसका कारण है। वह कारण है दोनों का एकाग्र और निरन्तर गहराता सम्पुंजन। उन्हें निकट से जाननेवाले और उनके काव्य के मर्मी आस्वादक और सम्पादक विद्यानिवास मिश्र ने उनके बारे में एक बड़ी पते की बात कही है, "अज्ञेय की लोकप्रियता का राज उनका कवि से अधिक मनुष्य बनने का दावा है।" इस दावे में निश्चय ही काफ़ी दम है। बहुत कम लेखक ऐसे होते हैं जो अपने जीवन और लेखन दोनों में एक अत्युच्च नैतिक मानदण्ड के निर्वाह के आग्रह से परिचालित रहे हों। अज्ञेय ऐसे ही लेखकों में थे। मिश्रजी ने आगे लिखा है, "मनुष्य के रूप में जब कभी कोई चुनौती अज्ञेय को मिली, तो उन्होंने कविता की शरण न लेकर उस चुनौती को व्यक्ति के रूप में स्वीकारा। चाहे क्रान्तिकारी रूप में, चाहे फ़ासिज़्म-विरोधी रूप में, चाहे स्वाधीनता के पक्षधर रूप में, आग में कूदे बिना उनसे रहा नहीं गया।"

आधुनिक कवि येट्स ने अपनी एक अत्यन्त मार्मिक सूक्ति सरीखी कविता में यह स्थापना की है कि "मनुष्य की बुद्धि दो में से एक को ही चुन लेने को अभिशप्त है : या तो वह रचना की पूर्णता ही सिद्ध कर ले, या फिर जीवन की पूर्णता को ही, दोनों इकट्ठा नहीं सध सकते।" किन्तु पश्चिम की बुद्धि, पश्चिम का अनुभव जहाँ एक दुर्निवार अन्तर्विरोध देखता है, वहाँ भारतीय मन उसे घुलाने का संकल्प लेकर चलता है। उसकी पारम्परिक निष्ठा यही रही है कि व्यक्तित्व और कृतित्व में विरोध नहीं होना चाहिए या कम-से-कम होना चाहिए। अज्ञेय भी अपने मन के दोनों खण्डों—चेतन और अवचेतन—के बीच तनाव और संघर्ष की बजाए मैत्री ही स्थापित करने के आदर्श से अनुप्राणित रहे और इस आदर्श के निर्वाह में बहुत दूर तक सफल भी हो सके! इसका कारण यह था कि अपनी परिस्थिति और अपनी संस्कृति दोनों के प्रति आरम्भ से ही उनका दृष्टिकोण अत्यन्त सजग और दायित्वपूर्ण रहा। दूसरे शब्दों में, उन्होंने जहाँ एक ओर अपनी परिस्थिति के आकलन को—संघर्ष-युग के साहित्यकार की अनिवार्य ज़िम्मेदारियों की अचूक

पहचान और निर्वाह को—सर्वाधिक महत्त्व का काम समझा, वहीं उन्होंने संस्कृति के स्वास्थ्य की चिंता भी गहनतम स्तरों पर की। वास्तव में ऐसे उदाहरणों से यही साबित होता है कि सच्चे मानों में प्राणवान् संस्कृति वही है जो आधुनिक विचार-प्रवाहों को आत्मसात् करते हुए आधुनिक जगत् को अपना मौलिक योग-दान भी कर सके। महज एक बाढ़ में न बह जाए, बल्कि एक सच्ची आन्तरिक प्रतिरोध-क्षमता भी अपने अन्दर विकसित कर सके। यदि कोई अज्ञेय से पूछता कि यह आन्तरिक प्रतिरोध-क्षमता किसी भी संस्कृति में कहाँ से आती है तो उनका उत्तर निस्सन्देह यही होता कि वह निरन्तर 'संस्कारवान् होने की क्रिया' में से आती है। यह अकारण नही है कि अज्ञेय इस निरन्तर 'संस्कारवान् होने की क्रिया' को ही आधुनिकता मानते और कहते थे।

किन्तु यह संस्कारवान होने की क्रिया अज्ञेय के यहाँ एक खुली संवेदना की अपेक्षा रखती है। और आधुनिक युग में इस खुलेपन का मतलब है—एक ऐसी युग-विद्ध और आत्म-विद्ध स्थिति का स्वीकार, जहाँ कोई टिकाव नहीं; आत्मतुष्ट होने की कोई गुंजाइश नहीं। अज्ञेय में संस्कार और संवेदना का एक ऐसा रचनात्मक और मूल्य-बोध सम्पन्न द्वन्द्व प्रारम्भ से ही रहा, जो जाने-अनजाने व्यक्तित्व की खोज के जरिए—कहना चाहिए, उसके निमित्त से ही, एक बृहत्तर सांस्कृतिक अस्मिता की शोध से प्रेरित था। उन्होने स्वयं ही एक जगह लिखा है कि "उस साहित्य की कोई प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, जिसमें कोई सांस्कृतिक अस्मिता नही बोलती।...जिससे हम बने हैं, उसे पहचानते हुए उसे सच्ची अभि-व्यक्ति दें तो वर्त्तमान और भविष्य हमारे है, नहीं तो हम कहीं के नहीं।" अज्ञेय के इस विश्वास को उनकी प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' में भी अभिव्यक्ति मिली है। उनके काव्य और चिन्तन में ही नहीं, उनके जीवन-व्यापी साहित्य-आयोजनों और कर्म-चेष्टाओं में भी, सांस्कृतिक अस्मिता का यह आग्रह बराबर प्रतिफलित होता देखा जा सकता है। संस्कार और संवेदना का यह द्वन्द्व एक तरह से देखें तो भारतीयता और आधुनिकता के बीच का द्वन्द्व था : एक अनिवार्य द्वन्द्व, जिसकी प्रक्रिया और परिणति दोनों अज्ञेय-साहित्य में देखी जा सकती है। एक आत्म-विश्वासपूर्ण और परिपक्व आधुनिक भारतीयता में ही उस प्रक्रिया की परिणति हुई—ऐसा निस्संकोच कहा जा सकता है।

सांस्कृतिक अस्मिता की यह चिंता और आग्रह अज्ञेय के पूर्ववर्त्ती युग में प्रसाद और निराला में भी रहा। प्रसाद में तो चिंतन के स्तर पर भी इसकी बड़ी पुष्ट अभिव्यक्ति हुई है और यह एक ऐसी विशेषता है जो साहित्य की परम्परा में अज्ञेय को प्रसाद का निकट उत्तराधिकारी बना देती है। अज्ञेय से पूर्व केवल प्रसाद में वैसा इतिहास-बोध और वैसा सजग सांस्कृतिक व्यक्तित्व दिखायी देता

है और शायद यही कारण था कि कवि-आलोचक विजयदेवनारायण साही को अज्ञेय और प्रसाद के बीच एक आश्चर्यजनक साम्य दीखा। इसमें संदेह नहीं कि क्या बौद्धिक व्यक्तित्व, और क्या रचनात्मक विकास-क्रम, दोनों ही दृष्टियों से अज्ञेय ही प्रसाद के सबसे नजदीक जान पड़ते हैं और अपने-अपने जमाने पर इन दोनों कवि-चिंतकों की इतनी जबर्दस्त छाप है कि जिस तरह छायावाद युग को कभी-कभी प्रसाद-युग भी कह देना अनुचित नहीं लगता, उसी तरह छायावादोत्तर युग पर अज्ञेय की छाप को देखते हुए यदि कोई उसे अज्ञेय-युग की संज्ञा दे, तो यह अनर्गल नहीं लगेगा। एक बात और है : वह यह कि छायावादोत्तर काल में जिस आधुनिक भावबोध के प्रवर्त्तक रूप में हम अज्ञेय को देखते हैं, उस भाव-बोध का कुछ पूर्वाभास हमें जयशंकर प्रसाद के कृतित्व में ही मिल चुका था। आधुनिक सभ्यता के संकट का साक्षात्कार अपने जमाने के विचारों की चौहद्दी के भीतर हम प्रसाद में भी पाते हैं। सांस्कृतिक अस्मिता की शोध का कुछ वैसा ही सजग अध्यवसाय हमें अज्ञेय में भी मिलता है : इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के बावजूद कि प्रसादजी अपनी आस्था के धरातल पर बहुत कुछ ऐसा मानकर चल सकने थे जिसे मानकर चलने की सुविधा अज्ञेय को नहीं थी। इस सिलसिले में अज्ञेय की परवर्त्ती पीढ़ी के कवि-आलोचक (स्व०) विजयदेवनारायण साही की वह बात याद हो आती है कि "प्रसादजी ने जहाँ अनुभूति को दर्शन में घुलाया, वहाँ अज्ञेय ने दर्शन को अनुभूति में घुलाने की राह निकाली।" 'त्रिशंकु' में अज्ञेय ने जहाँ एक ओर प्रसाद को उनके 'इतिहास बोध' के लिए सराहा है, वहीं उनकी 'रोमांटिकता' की आलोचना भी की है। उस समय अज्ञेय प्रसाद के 'सामरस्य' दर्शन का वस्तुनिष्ठ और अनासक्त आकलन कर सकने की स्थिति में नहीं थे। ठीक उसी तरह, जिस तरह वे गाँधीजी के जीवन-दर्शन की गहराइयों में जाने का यत्न किये बिना उसे 'आधुनिकता के दबाव से पलायन की चेष्टा से अनुप्राणित' मान रहे थे, उसी तरह प्रसाद के काव्य और प्रसाद की बौद्धिकता के प्रति भी उनका सम्बन्ध विरोध का ही बना।

साहित्य के इतिहास में कदाचित् हर नयी पीढ़ी ऐसी ही विद्रोह-चेष्टा में से अपना स्वतन्त्र मार्ग बनाया करती है। और, इसलिए यदि अज्ञेय ने भी शुरू में यही किया तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। स्वभावतः प्रसाद की प्रश्नाकुलता से अज्ञेय की प्रश्नाकुलता का स्वरूप भिन्न होना ही था और हुआ भी। 'तारसप्तक' में संकलित अज्ञेय की एक कविता है—'शिशिर की राका-निशा'—जिसमें इस नये भाव-बोध की, पूर्व-युगों से छायावादोत्तर कवि के मोहभंग की बड़ी तीखी, हालाँकि काफ़ी अतिरंजित और इसीलिए सरलीकृत अभिव्यक्ति हुई है :

गा गया तब राजकवि, फिर राजपथ पर सो गया।
गा गया चारण, शरण फिर शूर की आकर, निरापद हो गया
गा गया फिर भक्त ढुलमुल चाटुता से वासना को झलमलाकर,
गा गया अन्तिम प्रहर में वेदना प्रिय, अलस, तन्द्रिल,
कल्पना का लाड़ला कवि, निकट भावावेश से निर्वेद !

किन्तु अब—निःस्तब्ध-संस्कृत लोचनों का
भाव-संकुल, व्यंजना का भीरु, फटा-सा, अश्लील-सा विस्फार,

झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
वंचना है चाँदनी सित
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

युवा अज्ञेय की यह कविता सन् 41 में लिखी गयी थी। इसमें जो अतिरिक्त बौद्धिकता और अतिरिक्त भावुकता भी (छायावादी भावुकता की प्रतिक्रिया में) हमें आज अनुभव होती है, वह संक्रान्तिकालीन युवा कवि की मनःस्थिति को देखते हुए, अस्वाभाविक नहीं लगती। आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने छायावादियों से अज्ञेय के भाव-बोध को अलगाते हुए कहा है कि 'अज्ञेय की कविता ग़ैर-रोमैण्टिक है, यह कहना शायद बहुत ठीक नहीं। पर अज्ञेय में ग़ैर-रोमांटिक कविता की संभावना विवृत होती अवश्य दिखायी देती है।" इस कथन से अज्ञेय का कोई भी सजग पाठक सहमत होगा। इसी सिलसिले में चतुर्वेदी जी ने निराला का भी नाम लिया है और लिखा है कि "निराला में जो विद्रोह था, वह अज्ञेय में प्रयोग के रूप में दिखायी देता है।" किन्तु, जैसाकि संकेत किया गया, अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से अज्ञेय का सम्बन्ध केवल साहित्यिक क्रिया-प्रतिक्रिया तक ही सीमित नहीं; वह एक गहरे स्तर पर सांस्कृतिक अस्मिता की खोज से भी सम्बद्ध है जिसका अहसास अपेक्षाकृत धीरे-धीरे ही हो पाता है। इस स्तर पर प्रसाद से अज्ञेय के जुड़ाव की चर्चा हम कर ही चुके हैं। रहे निराला, तो निराला के साथ अपने जुड़ाव को अज्ञेय ने स्वयं ही 'स्मृति-लेखा' में बहुत अच्छी तरह व्यक्त कर दिया है। यह जुड़ाव सच्चे और पूरे अर्थों में सांस्कृतिक अस्मिता का जुड़ाव है। निराला की लम्बी कविता 'तुलसीदास' को एकदम नयी आँखों से पढ़ते हुए और उसके एक अपेक्षाकृत अनदेखे पहलू को उजागर करते हुए अज्ञेय कहते हैं :

"...अब भी मैं 'राम की शक्तिपूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उससे भी विलक्षण बात यह

है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं, बल्कि एक जीवन्त चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएँ तो कई होती हैं जिनमें एक रसिक हृदय बोलता है। बिरली ही रचना ऐसी होती है जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो। 'तुलसीदास' मेरी समझ में ऐसी ही एक रचना है।"

कहना न होगा, निराला की 'तुलसीदास' कविता के उक्त वैशिष्ट्य को वही कवि देख सकता था जो अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा के बारे में अत्यन्त जागरूक और संवेदनशील रहा हो। यह आकस्मिक नहीं कि किसी भी अन्य आलोचक या व्याख्याता की तुलना में स्वयं अज्ञेय ने अपने समय की कविता की पृष्ठभूमि को कहीं अधिक जिम्मेदारी और सचाई के साथ प्रस्तुत किया है। अज्ञेय के शब्दों में :

"छायावाद के कवियों ने अपने लिए एक समाज बनाया था जिसका लाभ हमें भी मिला, मैंने और मेरे समकालीनों ने अपने लिए एक समाज बनाया। छायावाद का समाज स्वयं छायावाद के कवियों की तरह वाचिक परम्परा में पला था और पढ़कर कविता ग्रहण करने की ओर आ रहा था। हमारा समाज मुख्यत: श्रोता नहीं, पाठक है, जैसेकि कवि प्रमुखत: वाचक नहीं, लेखक है।"

वाचिक और पाठ्य के बीच यह विवेक कितना ज़रूरी है, कहने की बात नहीं। अज्ञेय कविता के 'सम्प्रेषण' को, सम्प्रेषण की परिस्थितियों को अत्यधिक महत्त्व देते थे। उनके लिए काव्य-अभिव्यक्ति से भी अधिक 'सम्प्रेषण' था और वे जानते थे कि सम्प्रेषण की स्थितियों को समझे बिना काव्य का मूल्यांकन तो दूर, सही अर्थ-ग्रहण भी नही हो सकता। ये स्थितियाँ लगातार बदलती रहती है और उस बदलाव का असर कवि-कर्म पर भी पड़ता है। सामाजिक परिवेश सामाजिक सम्बन्धों के जिस बृहद् यथार्थ का नाम है, उसे केवल आर्थिक सम्बन्धों तक घटाकर देखना गलत है। ये बदलते हुए सामाजिक सम्बन्ध सम्प्रेषण की बदली हुई स्थिति को जन्म देते हैं जिन्हें कोई भी कवि अनदेखा नहीं कर सकता।

अज्ञेय का बाल्य-काल वाचिक परम्परा से छपी हुई कविता पढ़न की परम्परा में संक्रमण का काल था। उन्हीं के शब्दों में :

"मेरे गुरुस्थानीय स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त वाचिक परम्परा के अन्तिम महाकवि थे : उनका शिष्य मैं जब लिखने लगा तो नयी रचना-स्थिति के तर्क को पूरी तरह स्वीकार करके, और यह जान-मान करके कि नयी रचना-स्थिति को, नयी सम्प्रेषण-स्थिति के नियामक प्रभाव को पूरी तरह स्वीकार करके ही 'आधुनिक' कवि हुआ जा सकता है—फिर वह आधुनिकता चाहे जितनी कठिनाइयाँ अपने स्वीकार के साथ लाये।"

ऐसा नहीं कि काव्य के आधुनिकीकरण की यह प्रक्रिया हिन्दी में अकेले अज्ञेय के हाथों ही सम्पन्न हुई हो। संक्रमण तो काफ़ी पहले शुरू हो चुका था। स्वयं अज्ञेय ने इस विषय में छायावादियों का ऋण स्वीकार किया है : यह कहते हुए, कि—"आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में छायावाद के कवि पारम्परिक श्रव्य और आधुनिक पद्य के बीच में आते थे। उन्होंने हिन्दी काव्य के स्वभाव में कई परिवर्तन ला दिए जिनके बिना उसका आधुनिक होना संभव नहीं था।"

छायावाद ने भी अपने समय में विद्रोह किया था : उस इतिवृत्तात्मकता से, जो वाचिक परम्परा में अनिवार्यतः थी। उसने व्यक्तित्व के प्रकाशन को सम्भव बनाया। किन्तु इस मुक्ति-चेष्टा में वह स्वयं अत्यधिक व्यक्तिबद्ध और अन्तर्मुख हो गयी थी और नयी सामाजिक परिस्थिति के संवेदन को व्यक्त करने में अक्षम। अब एक नया विद्रोह आवश्यक हो गया था—स्वयं छायावादी 'मुक्ति' से विद्रोह। अज्ञेय और उनके साथियों ने वही किया। इन दोनों क्रमिक विद्रोहों के फलस्वरूप ही वाचिक परम्परा से पढ़ी जानेवाली कविता में संक्रमण का कार्य पूरी तरह निष्पन्न हुआ। इस नयी सम्प्रेषण-स्थिति के तर्क का सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर पूरा-पूरा स्वीकार पहले-पहल अज्ञेय के यहाँ ही मिलता है। बच्चन और दिनकर के बारे में यह नहीं कहा जा सकता : उनकी कविता नये युग के बौद्धिक संस्कार भी शायद इसीलिए ग्रहण नहीं कर पायी।

वाचिक काव्य में कवि का अपने श्रोताओं के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता था। इसलिए कवि के लिए अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति अनावश्यक थी। छपाई के आने के साथ कवि का अपने पाठक के साथ सम्बन्ध एकदम परोक्ष हो गया। इस परोक्षता के प्रतिकार के लिए, छपी हुई कविता में कवि की साकार उपस्थिति की कमी को भरने के लिए अब उन छपे हुए शब्दों के माध्यम से ही एक सूक्ष्म स्तर पर कवि-व्यक्तित्व का प्रक्षेपण आवश्यक हो गया था। यह काम छायावाद ने किया। रीति-प्रधान भाषा के स्थान पर उसने बिम्बप्रधान, अन्तर्जगत् की अनेक अर्थच्छटाओं वाली काव्यभाषा रची। किन्तु अब एक नयी परिस्थिति सामने थी। बढ़ते हुए प्रजातांत्रिक आग्रह के साथ सामान्यजन की भाषा का, मुहावरे का दबाव

भी काव्यभाषा पर पड़ना स्वाभाविक था। कविता में गद्य की अपेक्षा परिवर्तन की रफ़्तार धीमी होती है, इस अर्थ में कविता अधिक पारम्परिक और अधिक सांस्कारिक विभूति है। इसलिए उसमें रूप-तंत्र का थोड़ा-सा भी परिवर्तन संवेदना के बहुत बड़े बदलाव को सूचित कर देता है। हम देखते हैं कि अज्ञेय के काव्य में यह रूपान्तरकारी आत्मविश्वास बहुत धीरे-धीरे ही आया। जब गद्यकार के रूप में, उपन्यासकार की हैसियत से उन्होंने क्रांति-सी उपस्थित कर दी थी, तब भी कविता के स्तर पर वे छायावादी काव्यभाषा से मुक्त नहीं हो पाये थे। धीरे-धीरे ही उनकी कविता में वह विस्फोटक नयापन आया जिसने हिन्दी के काव्य-दृश्य को सचमुच निर्णायक ढंग से प्रभावित किया।

भारतीय आधुनिकता : उपसंहार

यह एक विरोधाभासी किन्तु सच्ची बात है कि यूरोपीय संस्कृति का सबसे तगड़ा प्रतिरोध भारत में ही हुआ किन्तु यूरोपीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों के भीतर सबसे गहरी और सहानुभूतिपूर्ण पैठ भी भारतीयों ने ही दिखायी। स्वयं अज्ञेय का जीवन-व्यापी कृतित्व और चिंतन इस बात का उदाहरण अपने-आप बनता चला गया। संस्कृति और परिस्थिति, संस्कार और संवेदना, भारतीयता और आधुनिकता के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों की जैसी गहरी पहचान और इससे जुड़ा जैसा दायित्व-सजग चिन्तन अज्ञेय के यहाँ मिलता है, वैसा आधुनिक युग के शायद ही किसी अन्य लेखक में मिले। यही कारण है कि वे न केवल हिन्दी में आधुनिक भाव-बोध के प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठित हुए, बल्कि लगातार लगभग आधी सदी तक अपनी और परवर्ती पीढ़ी के लिए प्रेरणा और चुनौती बने रहे। चाहे 'त्रिशंकु' के जरिए संक्रान्तिकाल की समस्याओं का मंथन हो; चाहे 'आत्मनेपद' में विवेचित काव्य, आख्यान, आलोचना और संस्कृति के सन्दर्भ हों; चाहे 'तार-सप्तक' और उसके बाद की संपादकीय भूमिकाएँ हों; चाहे 'संवत्सर' का काल-चिंतन हो; चाहे 'अद्यतन' और 'युगसन्धियों पर' के निमित्त से व्यापक सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण हो; चाहे 'भवन्ती', 'अन्तरा', और 'शाश्वती' के माध्यम से स्वयं रचना की अन्त:प्रक्रियाओं का अंकन हो; अज्ञेय का चिन्तक और आलोचक लगातार अपने स्वधर्म के निर्वाह में तत्पर रहा और अपने समसामयिकों के सामने स्वाधीन कर्तृत्व का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता रहा।

'त्रिशंकु' के पहले ही लेख 'संस्कृति और परिस्थिति' में अज्ञेय ने कहा था :

"बिना गहरी और विस्तृत अनुभूति के संस्कृति नहीं है और बिना वैज्ञानिक, आलोचनामूलक ट्रेनिंग के ऐसी अनुभूति नहीं है।···स्वस्थ संस्कृति में हम नागरिक को स्वतन्त्र छोड़कर आशा कर सकते हैं कि उसकी परिस्थिति से ही उसकी संस्कृति उत्पन्न और नियमित होगी। किन्तु आज यदि हम जीवन के गौरव की रक्षा करना चाहते हैं तो हमें परखने और मुक़ाबला करने की शक्ति को संगठित करना होगा, हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा।"

कहना न होगा कि अपने रचनात्मक जीवन की देहरी पर ही की गयी इस प्रतिज्ञा को अपनी ओर से भरसक निबाहने की चेष्टा अज्ञेय के यहाँ बराबर लक्ष्य की जा सकती है। न केवल उपरोक्त कृतित्व के द्वारा सीधे-सीधे ही, किन्तु स्वयं अपने द्वारा स्थापित वत्सल-निधि के तत्त्वावधान में आयोजित लेखक-शिविरों और व्याख्यानमालाओं के माध्यम से ही। यह सारा उपक्रम भी पुस्तकाकार प्रकाशित है और महज उनके कुछ शीर्षकों का अवलोकन ही उसकी उपादेयता को झलकाने के लिए पर्याप्त होगा : सर्जन और सम्प्रेषण (1984), साहित्य का परिवेश (1985), सामाजिक यथार्थ और कथाभाषा (1986), समकालीन कविता में छन्द (1987), इत्यादि। ये सब अज्ञेय द्वारा सम्पादित पुस्तकें हैं जो 'परखने और मुक़ाबला करने की शक्ति को संगठित करने की' उसी तैयारी और जरूरत से प्रेरित है जिसे अज्ञेय ने कभी 'त्रिशंकु' में पहचाना था। 'त्रिशंकु' में ही संकलित 'चेतना का संस्कार' इस दृष्टि से आज भी मननीय है : उसमें व्यक्त अज्ञेय के तब के विचारों में आये उत्तरोत्तर गुणात्मक उत्कर्ष के बावजूद।

आधुनिक आलोचना में परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा के रचनात्मक सम्बन्ध का सबसे प्रभावशाली चिन्तन टी. एस. एलियट ने किया था। पूर्व और पश्चिम के बीच 'त्रिशंकु' जैसी स्थिति में लटके हुए भारतीय बुद्धिजीवियों की तरफ़ से सोचते हुए अज्ञेय को एलियट के उस निबन्ध में भी अपने काम की कई बातें दिखायी दीं। किन्तु अपने मानसिक संस्कार के अनुरूप उसमें निहित दृष्टि-संकोच को भी वे लक्ष्य किये बिना नहीं रह सके। अनुवादी अटपटेपन के बावजूद एलियट प्रणीत काव्य सर्जना की यह निर्वैयक्तिक व्याख्या अज्ञेय की पुनर्रचना में भारतीय काव्यशास्त्र की एक नयी समझ को उकसाती प्रतीत होती है। खुद अज्ञेय ने उसके बारे में यह दावा यों ही नहीं कर दिया है कि "ये स्थापनाएँ ऐसी नयी नहीं हैं, हमारे ही शास्त्र का विकास है। कुप्पी नयी है, लेकिन आसव पुराना है।"

निर्वैयक्तिकता के इस आदर्श को अज्ञेय के यहाँ आत्म-शिक्षण के अनिवार्य अंग की तरह उसी तरह महत्त्व दिया गया है जिस तरह विज्ञान की दीक्षा को। इस दोहरे अनुशासन का स्वीकार ही अज्ञेय की आधुनिकता का वैशिष्ट्य है। बरसों बाद 'आत्मनेपद' में वे कविता को 'अहं के विलयन का साधन' बताते हैं और प्राचीन कवियों के साहित्यादर्श ('स्वस्थ व्यक्ति की आनन्द-साधना') के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हैं।

दो सदियों के औपनिवेशिक दबाव और यूरोपीय शिक्षा-पद्धति के फलस्वरूप भारत का बुद्धिजीवी अपनी भूमिका के बारे में काफ़ी दिग्भ्रमित हो गया है, इसे अज्ञेय गहरे में अनुभव करते थे। यह भी कि उसकी मूल समस्या सांवेदनिक और बौद्धिक स्तरों पर अपनी जातीय श्रद्धा-बुद्धि के तात्त्विक आधार को स्वायत्त करने की है और पश्चिम की द्वन्द्वात्मक चुनौती से निपटने की भी। औपनिवेशिक भारत

की आत्माभिव्यक्ति की समस्या रूस और अमरीका दोनों की अपेक्षा अधिक विकट थी क्योंकि अमरीकी या रूसी संस्कृति यूरोप से अलग होकर भी अलग नहीं थी, जबकि एक सर्वथा भिन्न जीवन-दर्शन और विश्व-दृष्टि के व्यापक जनजीवन की धारा में लगातार उपस्थित रहे आने के बावजूद अपनी बेमेल शिक्षा की बदौलत उससे कट जाने के फलस्वरूप भारत का बुद्धिजीवी-वर्ग एक ऐसी ऐतिहासिक टूट और आत्म-विस्मृति का शिकार हो चला था कि वह न तो अपने परिवेश के साथ रचनात्मक तादात्म्य स्थापित कर पाता था, न उन नये विचारों से, जो उसे बौद्धिक स्फूर्ति प्रदान करते हुए भी उसके अन्तर्जीवन का अंग नहीं बन पाते थे। अज्ञेय की भारतीयता स्वयं भारतीयता पर ही प्रश्नचिह्न लगाने से आरंभ होती है। अज्ञेय की लड़ाई दरअसल हमारे समाज-परिवेश में व्याप्त उदासीनता और संवेदनात्मक भोथरेपन से थी। उसी को ललकारने-चेताने के सिलसिले में उन्होंने 'आत्मनेपद' में यहाँ तक कहा था कि "भारतीयता के मूल में जो भावनाएँ हैं, उनसे हमें मानवीय अस्तित्व की नगण्यता और जीवन के प्रति अवज्ञा का पाठ मिलता है।"

किन्तु वहीं वे यह भी साथ-साथ पहचानते हैं कि "पश्चिम से हम प्रभावित ही नहीं हुए, हमने पश्चिम को प्रभावित भी किया है। आधुनिक होने का अर्थ पश्चिम की नक़ल नहीं है।' अपनी परिस्थिति के तर्क से ही वे एक 'बेलाग सचेत स्वाधीन जिज्ञासा' पर ज़ोर देते हैं जो अपने काल में रहकर भी आगे देखे। उनका आग्रह यही रहा कि 'हम विश्व में और भारत में बदलती हुई परिस्थिति को पहचानें, तटस्थ होकर नयी स्थिति की छाप ग्रहण करें, मिटें नहीं, संस्कारी बनें।' इस संस्कार की बात के सिलसिले में 'नदी के द्वीप' कविता का स्मरण स्वाभाविक है जिसमें कवि कहता है :

> नदी तुम बहती चलो
> भूखंड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है
> माँजती, संस्कार देती चलो

'आत्मनेपद' में ही अन्यत्र अज्ञेय का कथन है : "आधुनिकता एक अनगढ़ चीज़ है। वह एक सिद्ध स्थिति नहीं, एक प्रक्रिया है। संस्कारवान् होने की क्रिया को ही मैं आधुनिकता मानता हूँ।" यह अकारण नहीं कि अज्ञेय आधुनिकता की बात को हिन्दी की बात—हिन्दी भाषा और हिन्दी काव्यगत सम्प्रेषण की समस्या की बात—बनाकर ही प्रस्तुत करते हैं। उनका विश्वास है कि हिन्दी अपने स्वभाव और स्वधर्म से ही आगे देखनेवाली भाषा है। हिन्दी का देश ही भाषाओं और संस्कृतियों के संगमों का देश है। हिन्दी उन संगमों की भाषा है, विद्रोहों की भाषा है। इसी भाषा ने सारे देश में भारतीयता के बोध को जीवित रखा। ऐतिहासिक

दृष्टि से विचार करते हुए वे पाते हैं कि "हिन्दी अलग-अलग जगहों को केन्द्र बनाकर सारे देश के संस्कारों और परिवर्तनों का नेतृत्व करती रही है। इसलिए आधुनिकता का संस्कार सदा से इसके साथ रहा है।" इस अकाट्य तर्क के आधार पर ही अज्ञेय हिन्दी साहित्य में आधुनिक भावबोध की प्रतिष्ठा करते हैं क्योंकि, उन्हीं के शब्दों में "हिन्दी का यह परम्परागत दायित्व है कि वह जिस अर्थ में आधुनिक थी, उसी अर्थ में आधुनिक बनी रहे।"

यह तो हुई भाषा-संसार की बात। एक दूसरे कोण से अर्थात् सम्प्रेषण की परिस्थिति में परिवर्तन के कोण से भी अज्ञेय आधुनिक होने की प्रक्रिया का औचित्य स्थापित करते हैं। 'सर्जना के क्षण' नामक अपनी कविताओं के एक महत्त्वपूर्ण चयन की भूमिका में वे लिखते हैं :

> "आधुनिक पश्चिमी देशों में छापे का और साक्षरता का प्रसार बहुत पहले हो जाने से वहाँ वाचिक काव्य-परम्परा बहुत पहले नष्ट हो गयी जबकि भारत में काव्य का सम्प्रेषण और ग्रहण बीसवीं सदी के आरम्भ तक भी वाचन और श्रवण पर आधारित रहा···कविता की छपाई ने यह सब बदल दिया। प्रत्यक्ष संवाद के बदले परोक्ष प्रभाव महत्त्वपूर्ण हो गया। मेरा बाल्यकाल इसी संक्रमण का काल था।"

अज्ञेय जहाँ आधुनिक संवेदन की कठिनाइयों को बहुत बारीकी के साथ समझते थे, वहीं वह उसकी अनिवार्यता को भी अपने पूर्ववर्ती जयशंकर प्रसाद की तरह खुले मन से स्वीकार करते थे। क्या प्रसाद ने ही बहुत पहले यह अनुभव नहीं कर लिया था कि "हमें नयी चेतना और आधुनिक समय को स्वायत्त करना होगा?" × × × "पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करना हमारी केवल निरू-पायता ही नहीं, अनिवार्यता भी है?" इस स्वीकार के साथ-साथ प्रसाद ने यह भी पूछना आवश्यक समझा था कि "इस सचेतनता के फलस्वरूप हम अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन क्यों न करें? हमारे ज्ञान-प्रतीक दुर्बल तो नहीं है।"

अज्ञेय उस तरह प्रत्यावर्तन शब्द का इस्तेमाल तो नहीं करते क्योंकि प्रसाद की तरह वे भी जानते हैं कि 'प्रत्यावर्तन के पथ पर पदचिह्न न शेष बचा है।' किन्तु प्रसाद की अपने मौलिक ज्ञान-प्रतीकों के पुनरन्वेषण की चिंता कहीं गहरे में अज्ञेय की अपनी चिन्ता भी है, इसका काफ़ी कुछ प्रमाण हमें उनके चिंतन में विशेषकर 'संवत्सर' तथा 'स्रोत और सेतु' के निबन्धों में मिलता है।

अज्ञेय ने 'स्रोत और सेतु' में एक जगह लिखा भी है कि इतिहास और परम्परा एक नहीं हैं, 'इतिहास से मुक्ति हमारी परम्परा की सबसे बड़ी देन है।' *उन्होंने आगे यह भी दिखलाया है कि 'अवस्थिति का बोध भारतीय चरित्र की बहुत बड़ी विशेषता है'* और यह बहुत हद तक उस कमी को पूरा कर देता है

जिसका आरोप हम पर लगाया जाता रहा है—इतिहास-बोध की कमी का।" अज्ञेय के सामने भी प्रसाद की तरह, एलियट की तरह एक तुलनीय समस्या थी : रूढ़ि का बासीपन और मुर्दनी दूर करने की, उसे रचनात्मक अनुभूति के स्तर पर जीवन्त परम्परा के रूप में स्वायत्त करने की। अज्ञेय के लिए यह समस्या अपने से बाहर आकर इतिहास और विज्ञान की नयी दृष्टि से भी परम्परा को टटोलते हुए आत्मविश्वासपूर्वक आगे बढ़ने की समस्या बनी। इतिहास से त्रस्त एलियट को परम्परा-बोध का ऐसा समावेशी तर्क चाहिए था जो उसे बिना अनैतिहासिक बनाये इतिहास से मुक्ति का अनुभव दे। अज्ञेय को भी रचना-द्रोही रूढ़ि की जकड़न से अपने आत्मबोध को मुक्त करते हुए संक्रान्तिकाल की टकराहटों के बीचो-बीच अपनी जातीय अस्मिता को और रचनात्मक जिजीविषा की दिशा को परिभाषित करना था। एलियट ने भारतीय अनुभव के परम्परा-बोध की दिशा में कुछ दूरी तय की; अज्ञेय ने यूरोपीय अनुभव के इतिहास-बोध की दिशा में उतनी ही दूरी तय की। दोनों के लिए मूल चालक प्रेरणा अपने काल में अपनी अवस्थिति के बोध की ही थी।

किन्तु, एलियट के विपरीत अज्ञेय का सम्बन्ध प्रकृति के साथ अधिक सहज और घनिष्ठ है और यह पक्ष उनकी रचनाओं में ही नहीं, चिन्तन के स्तर पर भी बराबर अभिव्यक्त होता रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'सभ्यता के आवरण और कविता' की चर्चा करते हुए 'प्रकृत रूप के प्रत्यक्षीकरण' की राह में आनेवाली जिन आधुनिक बाधाओं का उल्लेख किया था, अज्ञेय उनसे अच्छी तरह परचे हुए थे और उनके चिन्तन में भी उन बाधाओं के प्रतिकार की सजग चेष्टा देखी जा सकती है।

विज्ञान के प्रति एलियट का दृष्टिकोण नकारात्मक ही है, जबकि अज्ञेय का सकारात्मक। उनमें एलियट की जैसी 'प्रतिक्रिया' की गन्ध भी नहीं है। एलियट के विपरीत अज्ञेय की निष्ठा आरम्भ से ही मानववादी रही है और इस दृष्टि में गुणात्मक उत्कर्ष उत्तरोत्तर देखा जा सकता है। अज्ञेय अनुभव करते हैं कि 'अस्मिता के संकटापन्न होने से चित्त में अराजकता और आक्रामकता का संचय होता है और इससे जीवन की गुणात्मकता विकृत होती है।' तभी उनके मन में यह प्रश्न उठता है कि 'क्या कोई मानव केन्द्रित आध्यात्मिकता सम्भव है?' पहले वे आध्यात्मिकता की बात न करके एक 'मानव-संभूत नीति' में ही नैतिकता का आधार खोजने की बात करते थे। और इसे आधुनिक संवेदन की मूल समस्या की तरह देखते थे। मूल समस्या तो अब भी यथावत् रहती है। किन्तु उसे देखने की उनकी दृष्टि में कुछ अन्तर आ जाता है। वे अब सत्य, ऋत, तप और आवर्तीकाल के भारतीय मूल्यों को 'मानव-जीवन मात्र के बुनियादी मूल्यों' का आग्रह मानते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि "इनका आविष्कार मैंने नहीं किया। ये सनातन मूल्य हैं

और वस्तुत: सनातन धर्म कोई है तो इन्हीं पर आधारित है, वह नहीं, जिसके सनातनत्व का हमने उन्नीसवी शती में आविष्कार किया जब आर्यसमाजी के सामने सनातनी हिन्दू आ खड़े हुए।"

इस प्रसंग में 'मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि' शीर्षक एक अत्यन्त विचारोत्तेजक लेख का हवाला देना यहाँ हमे उपयुक्त लग रहा है। इस लेख में अज्ञेय कहते हैं :

> "किसी मतवादी रूढ़ि से अलग धर्म की उद्भावना को मैं संसार को भारतीय चिन्तन की सबसे बड़ी देन मानता हूँ। संसार के किसी धर्म ने मनुष्य के मानस को उतनी स्वाधीनता का वातावरण नहीं दिया जितना भारतीय धर्म ने। किसी ने स्वस्थ जीवन की उतनी गहरी नींव नहीं डाली जितनी भारतीय धर्म ने। अवश्य ही इस समझ तक पहुँचने में मुझे समय लगा और यह भी नहीं है कि यात्रा में मैंने ठोकरें नहीं खायीं। लेकिन यहाँ तक पहुँचकर मुझे जो सुख मिला है, उसे वे ही लोग समझ सकते हैं जो निष्ठा पूर्वक तीर्थ यात्रा करके घर लौटते हैं...।"

किन्तु अज्ञेय की आलोचक-बुद्धि यहाँ भी सजग रहती है। धर्मबीजों पर आस्था की शर्त न रहने से—यह सच है कि—भारतीय मानस उस तरह के पाप-बोध से आक्रान्त नहीं होता, किन्तु आचरण की रूढ़ियों में बँध जाने से समाज में जो विकृतियाँ आती हैं और जैसा पाखण्ड पनपता है, उसे भी अज्ञेय साफ देख सकते हैं। इसीलिए वे कहते है कि "हमारे लिए पाखण्ड अपेक्षया कम कठिन है और हम उसे देर तक निबाहते भी चल सकते हैं।" समग्र परिवेश की राजनीति की चर्चा करते हुए अज्ञेय ने उस पाखण्ड को भी उद्घाटित किया है, जिसके चलते हम एक ही साँस में विकेन्द्रीकरण और सांस्कृतिक वैविध्य की बड़ी-बड़ी बातें भी कर सकते हैं और भारतीय जीवन में भारतीय भाषाओं को उनका उपयुक्त स्थान देने से कतराते भी रह सकते हैं। इतना ही नहीं, 'समग्र क्रान्ति' पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए अज्ञेय का चिन्तक आज के माहौल को देखते हुए एक अत्यन्त अलोक-प्रिय किन्तु अत्यन्त खरी बात भी कह देना ज़रूरी समझता है, "हमें मानव-जीवन के सम्पूर्ण राजनैतिकीकरण का विष-व्यूह तोड़ना है, असल चुनौती तो यही है।" इसी सिलसिले में गाँधीजी के जीवन-दर्शन की प्रासंगिकता का, उसकी प्रेरक जीवन्तता का भी सांकेतिक, किन्तु बहुत ही सटीक और मार्मिक बखान भी उन्होंने लगे हाथ कर दिया है क्योंकि "जीवन के सम्पूर्ण राजनैतिकीकरण के दुष्परिणामों को गाँधीजी बहुत पहले समझ चुके थे।"

अज्ञेय के उक्त सारे प्रौढ़ चिन्तन से गुज़रते हुए पाठक अनुभव कर सकता है कि किस तरह वह 'त्रिशंकु' में व्यक्त विचारों का गुणात्मक उत्कर्ष और लगभग अपूर्वानुमेय विकास भी सूचित करता है। एक ऐसी दिशा में, जिसे भारतीय आधु-

निकता का नाम देना उचित ही जान पड़ता है। इस भारतीय आधुनिकता में नैतिकता का वह अन्त:प्रमाण भी निहित है जो स्वयं अज्ञेय के कथनानुसार जीवन का और आत्मदर्शन का एक सन्तोषजनक आधार देनेवाला है। 'स्रोत और सेतु' में उन्होंने स्पष्ट किया है :

> "नैतिक-अनैतिक की परख भी कुछ अभिमूल्यों के आधार पर होती है जो अन्ततोगत्वा आध्यात्मिक है और साथ ही विकासमान भी है, स्थिर या जड़ नहीं है क्योंकि मानव जड़ नहीं।"

बड़े कवित्व की कसौटी क्या है, इस बारे में सबका सहमत होना आवश्यक नहीं। किन्तु आधुनिक कवि टी. एस. एलियट ने टेनीसन के काव्य का मूल्यांकन करते हुए कहीं लिखा है कि बड़ा कवि वही है जिसमें ये तीनों गुण विद्यमान हों : विपुलता (एबन्डेन्स), वैविध्य (वैराइटी) और पूरा-पूरा कर्म कौशल (कम्पलीट कम्पीटेन्स); एलियट की इस उक्ति का स्मरण अचानक या अकारण ही नहीं हुआ : आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में जिस एक कवि का अवदान—सृजन और आलोचनात्मक चिन्तन के दुहरे स्तर पर आधुनिक अंग्रेज़ी कविता के इस शीर्ष-स्थानीय कवि से तुलनीय ठहरता है, वह अज्ञेय हैं। सचमुच देखा जाए तो अज्ञेय एलियट द्वारा प्रस्तुत इस कसौटी पर खरे उतरते प्रतीत होंगे। उनका कृतित्व विपुल और वैविध्यपूर्ण तो है ही : साथ में शिल्प-कौशल की दृष्टि से भी वह उनके समकालीनों एवं परवर्तियों के लिये लगातार स्पृहणीय और प्रेरणाप्रद बना रहा है।

यह विपुलता और वैविध्य उनके काव्य-कृतित्व में ही नहीं, उनके गद्य-कृतित्व में भी भरपूर प्रकट हुआ देखा जा सकता है। क्या कहानी, क्या उपन्यास, क्या आत्म-निबन्ध, क्या सैद्धान्तिक आलोचना, क्या सांस्कृतिक चिन्तन और क्या यात्रावृत्त सभी विधाओं में इस प्रतिभाशाली लेखक ने अपनी छाप छोड़ी और नये प्रतिमान स्थापित किये। अज्ञेय में न केवल युगीन समस्याओं के प्रखर विश्लेषण की शक्ति थी, बल्कि तदनुकूल रचनात्मक संभावनाओं को एकजुट कर सकने की संगठन-क्षमता भी। उच्चकोटि के सृजन सामर्थ्य और प्रखर विचार शक्ति के साथ-साथ अपने युग-परिवेश की रचनात्मक संभावनाओं को पहचानने और एक-जुट कर सकने की व्यवस्थापकीय क्षमता का ऐसा एकाग्र संघटन किसी एक व्यक्ति में मिलना साहित्य के इतिहास में दुर्लभ ही होता है।

अज्ञेय की इस विलक्षणता का आखिर क्या रहस्य था ? पूर्व और पश्चिम के समन्वय की बात अक्सर उठायी जाती है और यह भी कहा जाता है कि पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम, और दोनों में मेल होना असम्भव है। किन्तु अज्ञेय के व्यक्तित्व में, लगता है इनकी भरपूर टकराहट के फलस्वरूप ही मानो, यूरोपीय और

भारतीय गुणों का एक अद्‌भुत मेल-सा हो गया था : घोर अनुशासन-प्रियता के साथ अपने को ढीला छोड़ सकने की उतनी ही उत्कट क्षमता, यथार्थान्वेषिणी जिज्ञासा के साथ उतनी ही उत्कट आदर्शवादिता, तीव्र आवेग और उतना ही गहरा संयम, वस्तुपरक वैज्ञानिक विश्लेषण वृत्ति और आत्मोन्मुखी चिन्तन-वृत्ति, व्यक्तित्व की उत्कट खोज और आत्मदान की उतनी ही उत्कट अन्तर्विवशता...। सामान्यतया हमारी शिक्षा-पद्धति में स्वाधीन आत्मचेता व्यक्तित्व के विकास की गुंजाइश कम ही देखी गयी है। एक तरह के छाया-मस्तिष्क ही उसमें से ढलकर निकलते हैं। *किन्तु अज्ञेय की शिक्षा ने उनकी मौलिकता को और उकसाया। व्यक्ति के* आत्म-शिक्षण पर जितना ज़ोर अज्ञेय ने दिया है उतना कदाचित् ही किसी और लेखक ने दिया होगा। इसी आत्म-शिक्षण के बूते उन्होंने आरोपित 'शिक्षा' को भी चुनौती की तरह ग्रहण किया, उसे बाधा बनने देने की बजाए उसे एक स्वाधीन अस्मिता की खोज का उपकरण बना डाला। अज्ञेय की विशेषता इसी में निहित थी।

उनका स्वाधीनता-बोध अमूर्त्त नहीं था। निर्मल वर्मा के शब्दों मे : "वह सीधे-सीधे सृजन और कर्म की उन समस्याओं से जुड़ा था, जिनसे आज का हर संवेदनशील लेखक जूझता है।" एक लेखक के लिए स्वाधीन अस्मिता की खोज और प्रतिष्ठा का प्रश्न सबसे गहरे भाषा की चिन्ता से जुड़ा होता है। अज्ञेय मानते थे कि 'मानवीय संस्कृति की सबसे मूल्यवान् उपलब्धि भाषा है और भाषा ही समाज-जीवन का सबसे मूल्यवान् उपकरण है। भाषा के आविष्कार में मानवीय अस्मिता का आविष्कार होता है : उसकी सृष्टि होती है।" अज्ञेय का लेखन उक्त मान्यता को ही नहीं, उसके अनुरूप दायित्व-सजग आचरण को भी उदाहृत करता है।

इसी सिलसिले में निर्मल वर्मा ने अज्ञेय के महत्त्व को जिस प्रकार समझा और आँका है, वह परवर्ती पीढ़ी के एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार का मन्तव्य होने के नाते *विशेष रूप से मूल्यवान् है, 'अज्ञेय : एक स्वाधीन व्यक्तित्व'* शीर्षक अपने लेख में लिखते हैं :

> "आज के व्यावसायिक युग में, जहाँ संप्रेषण के साधन दिनोंदिन झूठे और पराधीन बनते जा रहे हैं, लेखक के सामने यह चुनौती बराबर बनी रहती है कि वह अपनी भाषा को अवमूल्यित किये बिना दूसरों तक अपनी सच्चाई पूरी पवित्रता और प्रामाणिकता के साथ संप्रेषित कर पाये।...अज्ञेय की यह अद्‌भुत विशेषता थी कि वह दोनों गढ़हों से बचकर अपनी भाषा की शर्तों पर दूसरों तक पहुँचने का ज़ोखिम उठाते रहे। यह एक तरह से हवा में तनी हुई रस्सी पर चलना था—सस्ती लोकप्रियता और आत्म-सम्मोहन के

बीच—इसमें वह सफल भी हुए, असफल भी, किन्तु लेखक का प्राथमिक धर्म इस रस्सी पर ही चलना है, इस चुनौती से उन्होने कभी मुँह नहीं मोड़ा।"

यह सच है; और यह न केवल अज्ञेय के चिन्तनात्मक गद्य के बारे में सच है, बल्कि उनकी कविता के बारे में भी :

'''कविता तो
ऐसी ही बात होती है
नहीं तो लयबद्ध बहुत-सी खुराफात होती है
ऐसी ही बात
दिल फोड़कर रहस्य से आती है
भीतर का जलता प्रकाश बाहर ले आती है :
स्वयं फिर नहीं दीखती, और सब कुछ दिखाती है
उसी सब में कहीं
कवि को भी साथ लेकर
लय हो जाती है।

'कविता की बात' (सागर-मुद्रा)

अज्ञेय (स. ही. वात्स्यायन, 1911-1987) का प्रकाशित कृतित्व

काव्य

भग्नदूत (1933)
चिन्ता (1942)
इत्यलम् (1946)
प्रिज़न डेज़ एण्ड अदर पोएम्स (अंग्रेज़ी में, 1946)
हरी घास पर क्षण भर (1949)
बावरा अहेरी (1954)
इन्द्रधनु रौंदे हुए ये (1957)
अरी ओ करुणा प्रभामय (1959)
आँगन के पार द्वार (1961)
कितनी नावों में कितनी बार (1967)
क्योंकि मैं उसे जानता हूँ (1968)
सागर-मुद्रा (1969)
पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (1970)
महावृक्ष के नीचे (1977)
नदी की बाँक पर छाया (1981)
ऐसा कोई घर आपने देखा है (1986)
सदानीरा (दो जिल्दों में, 1929 से 1980 तक की सम्पूर्ण कविताएँ, 1986)
सर्जना के क्षण (संकलन, 1979)

उपन्यास

शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग (1940-41)
शेखर : एक जीवनी, दूसरा भाग (1944)
नदी के द्वीप (1951)
अपने-अपने अजनबी (1961)

कहानियाँ

विपथगा (1937)
परम्परा (1944)
कोठरी की बात (1945)
शरणार्थी (1948)
जयदोल (1951)
अमरवल्लरी (1954)
ये तेरे प्रतिरूप (1961)
कड़ियाँ (1971)
छोड़ा हुआ रास्ता (सम्पूर्ण कहानियाँ-1)
लौटती पगडंडियाँ (सम्पूर्ण कहानियाँ-2)
मेरी प्रिय कहानियाँ

यात्रावृत्त

अरे यायावर रहेगा याद (1953)
एक बूँद सहसा उछली (1960)

ललित-निबन्ध

सबरंग (कुट्टिचातन् नाम से, 1956)
सबरंग और कुछ राग (1982)
कहाँ है द्वारका (1982)
छाया का जंगल (1984)

आलोचना और चिन्तन

त्रिशंकु (1945)
आत्मनेपद (1960)/
आत्मपरक (1983)
कवि-दृष्टि (1983) (भूमिकाएँ)
भवन्ती (1972)
अन्तरा (1975)
शाश्वती (1979)
अद्यतन (1977)
संवत्सर (1978)

जोग लिखी (1977)
स्रोत और सेतु (1978)
युगसन्धियों पर (1981)

अनुवाद

श्रीकान्त (शरत् के उपन्यास का अंग्रेज़ी में, 1944)
द रेज़िग्नेशन (जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' का अंग्रेज़ी अनु. 1946)
गोरा (रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास का अंग्रेज़ी में)

सम्पादित ग्रन्थ

आधुनिक हिन्दी साहित्य (1949)
तारसप्तक (1943)
दूसरा सप्तक (1951)
तीसरा सप्तक (1959)
चौथा सप्तक (1978)
पुष्करिणी (1959)
नये एकांकी (1952)
नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ (संयुक्त रूप से, 1949)
रूपाम्बरा (हिन्दी प्रकृति काव्य-संकलन, 1960)
सर्जन और सम्प्रेषण (वत्सल निधि लेखक शिविर, लखनऊ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1984)
साहित्य का परिवेश (वत्सल निधि लेखक शिविर, आबू, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1985)
साहित्य और समाज परिवर्तन (वत्सल निधि लेखक शिविर, वृन्दावन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1986)
सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा (वत्सल निधि लेखक शिविर, बरगी नगर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1986)
समकालीन कविता में छन्द (वत्सल निधि लेखक शिविर, बोधगया, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1987)
स्मृति के परिदृश्य : (संवत्सर व्याख्यानमाला, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1987)
भविष्य और साहित्य (वत्सल निधि लेखक शिविर, जम्मू, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1989)

सहायक सामग्री

अपरोक्ष (अज्ञेय से लेखकों द्वारा लिये गये सात साक्षात्कारों का संकलन, 1979) सरस्वती विहार, दरियागंज, नयी दिल्ली

रचना क्यों और किनके बीच (अज्ञेय के साथ पाँच परवर्ती रचनाकारों के संवाद, 1988), भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ

अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, रामस्वरूप चतुर्वेदी, 1968

अज्ञेय की काव्य-तितीर्षा, नन्दकिशोर आचार्य, 1971

अज्ञेय और उनका साहित्य, (सं.) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, 1972

समानान्तर, रमेशचन्द्र शाह, 1973

वागर्थ, रमेशचन्द्र शाह, 1981

अज्ञेय : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, नवलकिशोर, 1977

आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय, (सं.) विद्यानिवास मिश्र, 1963

अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन

□